गगनांचल

वर्ष 16 अंक 1 1993

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्
नयी दिल्ली

प्रकाशक

निरंजन देसाई, महानिदेशक,
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नयी दिल्ली

संपादक

डॉ. अमरेंद्र मिश्र

आवरण

कांति राय

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् भारत सरकार के विदेश मंत्रालय के अधीन एक स्वायत्त संगठन है। भारत व अन्य देशों के मध्य सांस्कृतिक संबंधों एवं पारस्परिक सद्भाव को स्थापित तथा संपुष्ट करने के उद्देश्य से 1950 में परिषद् की स्थापना की गयी थी। भारत तथा दूसरे देशों के मध्य इस सांस्कृतिक संवाद के उद्देश्य से आयोजित अपने प्रकाशन कार्यक्रम में परिषद् अन्य गतिविधियों के अतिरिक्त त्रैमासिक पत्रिकाएं भी प्रकाशित करती है जो हिंदी (गगनाञ्चल), अंग्रेजी (इंडियन-हराइजन्स, अफ्रीका क्वार्टरली), अरबी (सक़ाफ़त-उल-हिंद), स्पेनिश (पपेलस-दे-ला-इंडिया) और फ्रेंच (रेकौंत्र अवेकलैंद) भाषाओं में हैं। हिंदी और अंग्रेजी की शुल्क दर नीचे दी गयी है। स्पेनिश, फ्रेंच और अरबी त्रैमासिक निःशुल्क हैं। प्रकाशन सामग्री के लिए संपादक 'गगनाञ्चल' से निम्नलिखित पते पर संपर्क किया जाना चाहिए :

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्
आजाद भवन, इंद्रप्रस्थ इस्टेट, नयी दिल्ली-110002

मुद्रक

विमल ऑफसेट 1/11804, पंचशील गार्डन,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

शुल्क दरें

एक अंक	वार्षिक	त्रैवार्षिक
रु. 5.00	रु. 20.00	रु. 50.00
£ 1.00	£ 4.00	£ 10.00
$ 2.50	$ 10.00	$ 25.00

ISSN 0971-1430

गगनाञ्चल

जनवरी-मार्च 1993

रचनाकारों से

1. आपकी रचना टंकित हो और उसकी पहली प्रति ही भिजवाएं। हस्तलिखित प्रति साफ-साफ होनी चाहिए।
2. अपनी रचना की एक प्रति अपने पास सुरक्षित रखें।
3. अनूदित रचना के साथ मूल लेखक की अनुमति का होना आवश्यक है।
4. रचनाकार रचना के साथ यह उल्लेख अवश्य करें कि यह उनकी मौलिक कृति है और अप्रकाशित व अप्रसारित है।
5. अयाचित रूप से पुस्तकों की समीक्षाएं न भिजवाएं।
6. स्वीकृत रचनाओं के संबध में सूचना यथासमय भेज दी जाती है। इसलिए 'गगनाञ्चल' में रचना भेजने के बाद उसे अन्यत्र न भेजें।

यह अंक

आज से लगभग चौदह वर्ष पूर्व एक पत्रिका के रेणु-स्मृति अंक की तैयारी के सिलसिले में *औराही हिंगना* गया था। मुझे रेणु के गांव, खेत, खलिहान, वहां के लोग और उनके कथा साहित्य में आए विभिन्न पात्रों के साथ बातचीत करने का दायित्व सौंपा गया था। यह काम मनोरंजक भी था और जोखिम से भरा हुआ भी। मनोरंजक इसलिए क्योंकि रेणु के विभिन्न पात्रों के साथ बातचीत करने का अपना मजा था और जोखिम भरा इसलिए क्योंकि रेणु ने अपने कथा साहित्य में जिन पात्रों को लिया है, वे अपने नाम और काम के साथ लगभग वैसे ही हैं जैसा कि उन्होंने अपनी कहानियों या उपन्यासों में दिखाया है। उन पात्रों के सामने मेरा एक सवाल यह था कि *'क्या जिस रूप में रेणु जी ने आपको दिखाया है, उससे आप संतुष्ट हैं?'* और उनके 'हां' कहने पर माना कि यह विश्वसनीयता ही किसी साहित्यकार की सबसे बड़ी शक्ति है।

गगनाञ्चल का यह अंक लोक साहित्य पर केंद्रित है और वह इसलिए क्योंकि बदलते समय में यह जरूरी हो गया है कि हम फिर अपने उस 'अतीत' का स्मरण करें जो हमें बार-बार बुलाता है। माना कि आज हम अपने पुरानेपन से बहुत कुछ मुक्त हो चुके हैं। हम आधुनिक बन गए हैं। हमारे सामने तेजी से दौड़ता-भागता एक मायावी संसार है जिसमें हमें अनेक प्रकार की सुविधाएं प्राप्त हैं। अब गांवों में भी लोग शादी-विवाह के अवसर पर पुराने लोक नृत्यों को बिसार चुके हैं। उनकी जगह दूसरे प्रकार के दृश्य माध्यम आ गए हैं। किसी समय देर रात तक किन्हीं घरों से रामायण, आल्हा, कजरी, लोकगीत सुनाई पड़ते थे, अब तरह-तरह के कैसेट्स चल पड़े हैं। पुराने मूल्य क्षरित हो रहे हैं और एक दूसरी दुनिया वहां कायम हो रही है। विश्वास टूट रहा है और उसके साथ-साथ समाज और परिवार का टूटना भी जारी है। प्रति वर्ष लाखों बेरोजगार गांव छोड़कर शहर की ओर पलायन कर रहे हैं। गांव अब संन्यासी होते जा रहे हैं। यह एक सुलगता सवाल है कि क्या यह क्रम यों ही चलता रहेगा? क्या हमारा अतीत, हमारी सांस्कृतिक संपदा, हमारे लोक जीवनगत सरोकार, जीवन मूल्य, आपसी विश्वास सब कुछ किताब के पन्नों में ही सिमट कर रह जाएंगे? क्योंकि लोक साहित्य की पूरी पृष्ठभूमि ही गांव पर केंद्रित होती है और गांव ही नहीं होंगे तो साहित्य आएगा कहां से? और जिस तरह की 'अवस्था' में आज के गांव पड़े हुए हैं, क्या उनसे रस लेकर आप वह दे पाएंगे जिसे अतीत के हस्ताक्षरों ने दिया है? जाहिर है कि उत्तर निराशाजनक होगा। यह भी सच है कि अधुनातन 'संस्कारों' ने हमें जो कुछ दिया है वह भी स्वागत योग्य कतई नहीं है। हमें बार-बार ऐसा लगता है कि पीछे जो छूट गया है या जिसे आगे बढ़ने के क्रम में हमने छोड़ दिया है, सारा कुछ तो वहीं है? और जब हम भारतवर्ष की परंपरा, साहित्य-संस्कृति की बात करते हैं, आज के संदर्भ में, तो लोक साहित्य हमें अपनी ओर खींचता है। जब रामनारायण उपाध्याय अपने लेख में यह कहते हैं कि *गोकुल से सहज सरल गांव नष्ट होते जा रहे हैं, जहां स्त्रियां बड़ी भोर से उठकर आटे के साथ घने अंधेरे को भी पीसकर सुहावने प्रभात में बदल देती थीं।* तो

लगता है मानों गांव कहीं खो गया है। वह हमारे सामने है लेकिन वह नहीं है जो था। वह विवाह गीत, सोहर, प्राकृतिक हलचलों से परिपूर्ण लोक गीत, होली, चैती के गीत, शिशु जन्म पर बधावा जैसे गीत अब लुप्त होते जा रहे हैं, लेकिन यह संतोष जरूर है कि ये सब हमारे लोक साहित्य में सुरक्षित हैं।

पिछले दिनों इटली से आयीं एक लेखिका ने बताया कि वहां के लोग हमारे देश की सांस्कृतिक-साहित्यिक गतिविधियों में पर्याप्त रूचि लेते हैं। सुनकर मुझे कतई आश्चर्य नहीं हुआ क्योंकि ऐसा तो कई देशों के लोग करते हैं। विदेशों में जहां-जहां भी भारतीय गए हैं वे अपने साथ अपनी भाषा और अपनी संस्कृति को लेकर गए हैं। फीजी, मारीशस, गयाना, सूरीनाम जैसे देश हमारे लोक साहित्य, लोक संस्कृति, लोक गीत और लोक परंपरागत वेश भूषा में समय-समय पर पर्व त्यौहार, उत्सव, आयोजनों में शरीक होते हैं और अपने उसी अतीत को याद करते हैं जिसे छोड़कर आगे बढ़ने के क्रम में हम भुलाने का एक असफल प्रयास करते रहे हैं।

इसलिए हमें लगा कि तथाकथित आधुनिकता की चाकचिक्य से अलग हटकर एक बार फिर अपने लोक साहित्य को पढ़ें, गुनें और एक ऊष्मा ग्रहण करें जो खेत में, खलिहान में, गांव में, गली में, घर में, तुलसी चौरे पर, पनघट पर, बरगद के नीचे लिखा-रचा गया। इस आयोजन को हमने जिन रचनाकारों की कलम से सजाया, वे स्वागत योग्य हैं। जिस तत्परता और उत्साह के साथ उन्होंने हमें सहयोग दिया, उनके हम आभारी हैं।

—*अमरेंद्र मिश्र*

लोक साहित्य, लोक संस्कृति, लोक कला

रामनारायण उपाध्याय

आखिर लोक साहित्य क्या है? यह जो अनादिकाल से अनंतकाल तक लोक की यात्रा चली आ रही है उसमें वह कहां उठा, कहां आगे बढ़ा है इस सबकी खोज, शोध और अध्ययन का काम लोक साहित्य का काम है।

हमारे इतिहास में जो भी सुंदर तेजस्वी तत्त्व हैं वे लोक में कहीं न कहीं सुरक्षित हैं। हमारी कृषि, अर्थशास्त्र, ज्ञान, साहित्य, कला के नाना स्वरूप, भाषाओं और शब्दों के भंडार, जीवन के आनंदमय पर्वोत्सव, नृत्य-संगीत कथा-वार्ता में सभी कुछ भारतीय लोक में ओतप्रोत हैं। लोक की गंगा युग-युग से बह रही है। उसमें भूत, भविष्य और वर्तमान सभी कुछ संचित रहते हैं। लोक की धात्री सर्वभूत माता पृथ्वी और लोक का व्यक्त रूप मानव ये ही हमारे नवीन जीवन का अध्यात्म शास्त्र हैं।

(आचार्य वासुदेवशरण अग्रवाल)

लोक क्या है? यह जो गांवों और नगरों में, खेतों और कारखानों में, गिरि कंदराओं और मैदानों में, नदियों के मुहाने से लेकर पर्वत शिखरों तक, मधुमक्खी के छत्ते की तरह, असंख्य जनता फैली है, वेदव्यास ने जिसके बारे में गाया *सुनाह मानुष भाई, सबार ऊपर मानुष सत्य बाहर ऊपर नाहीं*। भाई सुनो मनुष्य से बड़ा और कोई सत्य नहीं है और अभी अभी डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल जिसके बारे में कह गये कि "हमारे समस्त विचारों और कार्यों के मूल में जनता प्रतिष्ठित है। पृथ्वी हमारी माता है और हम उसके पुत्र हैं। सो उस लोक को जानने पहचानने और जाग्रत करने का प्रयास ही, जनपदीय अध्ययन का उद्देश्य है।

लोक संस्कृति क्या है? जाने क्यों संस्कृति शब्द अपनी दुरूहता के लिये प्रसिद्ध रहा है। लेकिन हिंदी साहित्य में जो शब्द अपनी दुरूहता के लिए प्रसिद्ध रहा है, वही लोक साहित्य में किसी बात को सहज सरल ढंग से समझाने के लिए, व्यवहृत होता आया है। जब कोई व्यक्ति, विशेष प्रकार से रहने या काम करने का, अभ्यस्त हो जाता है और लाख कठिनाइयां आने पर भी अपने मार्ग से विचलित नहीं हो पाता तो कहते हैं, "अरे उसके तो संस्कार पड़ गये हैं, वह नहीं बदलेगा।" सो व्यक्ति विशेष के कार्य जहां संस्कार कहलाते हैं, वे ही जब समष्टिगत स्वरूप ले लेते हैं तो उसे संस्कृति कहते हैं। एक शब्द में कहें तो अच्छी कृति से कीर्ति, कीर्ति से निरंतर अच्छी कृति और निरंतर अच्छी कृति से संस्कृति का जन्म होता है। गांवों को यदि लोक संस्कृति का मूर्त स्वरूप कहें तो भी अत्युक्ति नहीं। गांव का आदमी निरक्षर भले हो, लेकिन सुसंस्कृत रहा है। वह विश्वास पर बिक जाता है, धर्म पर झुक जाता है, सबकी सहता है, पर शिकायत नहीं करता, सब की सुनता है पर अपनी ओर से कुछ नहीं कहता। वह कभी थक कर नहीं बैठता, झुक कर नहीं चलता और त्याग में से प्राप्ति तथा परिश्रम में से आनंद पाता आया है। दुःख का पहाड़ आ जाए

या सुख की क्षीण रेखा वह सदा मुस्कराता है और अकेले रह जाने पर भी अपनी राह चलना नहीं छोड़ता। विभिन्न जातियों, मतों और वर्गों में बंटे होने पर भी वह समूचे गांव को एक परिवार मानता आया है और अपरिचित से भी, आत्मीयता निभाना उसका स्वभाव बन चुका है। हल की नोक से जमीन की छाती पर उभरे हुए ढेलों की तरह, जिसके चेहरे पर सदियों के दुःख दर्द को आसानी से पढ़ा जा सकता है, लेकिन जिस तरह कठोर पर्वत अपने हृदय में सरिता के उद्‌गम को छिपाये रहते हैं, वैसे ही ऊपर से कठोर दीखने वाले, ये जनपद जन अपने हृदय में लोक साहित्य की अक्षय परंपरा को जीवित रखे हुए हैं। इनके पास सभा के नहीं, श्रम के गीत हैं, जिनकी अँगुली पकड़ कर, उसने शताब्दी की दूरियों को लांघा और अतीत से प्रेरणा ग्रहण कर भविष्य के लिए मार्गदर्शन पाया है। उसके पास कमरे के नहीं, वरन् खुले मंच पर खेलने योग्य लोक नाट्‌य हैं जिनके माध्यम से उसने वर्तमान को देखने समझने और सँवारने की दृष्टि पायी है। उसके पास पुस्तक की नहीं वरन् जीवन की ऐसी रंगीन लोक कथायें हैं, जिन्होंने उसे वर्तमान के दुःख दर्द को भुला, कल्पना के पंखों पर बैठा अज़ात अनंत की सैर करायी है और उसके पास पैनी सूझ और समझ से युक्त, ऐसी लोक कहावतें हैं जिनमें बड़ी से बड़ी कठिनाइयों में से भी आगे ले जाने की अपूर्व क्षमता है।

लोक साहित्य के आयाम

गांव का आदमी जाने कब से, बाट जोह रहा है, कि कोई आए और उससे भी कुछ ले जाए उसका समग्र जीवन, एक खुली पुस्तक की तरह, सामने बिछा है, उसका रहन सहन, खान पान वस्त्राभूषण, आचार विचार, रीति रिवाज धर्म और आस्था, विश्वास और मान्यताएं पर्व और उत्सव मेले और तमाशे, गीत और कथाएं, नृत्य संगीत और कलाएं और भाषा तथा बोलियों के प्रत्येक शब्द हमें कुछ न कुछ देने की क्षमता रखते हैं।

जनपदीय बोली के मैदान में, किलोल करने वाले अनेक शब्द हमारी बाट जोह रहे हैं। गेहूं का एक नन्हा सा दाना हमें अनेकों शब्द देने की क्षमता रखता है। उसका कहना है कि आप मेरे सिर्फ उसी रूप से परिचित हैं, जिसे आपने कंट्रोल की दुकान से खरीदा है। वास्तव में जब मुझे एक से अनेक होने के लिए धरती में बोया गया तब मेरे ऊपर आने के लिए व्याकुल नव अंकुरित नन्हें से रूप का नाम है 'डिसूर'। जब मैं जमीन से ऊपर होकर लहराया तब मेरा नाम है—जवारा। जिस डंठल से होकर मैंने रूप ग्रहण किया उसका नाम है सुकला जिस छिलके ने मेरी वस्त्रों की तरह रक्षा की, उसका नाम है—कुसी, और जिस गुच्छे में मैं मस्ती से रहकर झूमा, उसका नाम है हुंबी। इस तरह अनेक रूपों से गुजरते हुए मेरा जो स्वरूप आपके सामने आया, सिर्फ उसे ही आप गेहूँ के रूप में पहचानते हो।

लोक भाषा के इसी अक्षय शब्द भंडार तथा लोक जीवन के विविध रूपों की खोज, शोध और अध्ययन करना, हमारा दायित्व है। आज लोक संस्कृति के समक्ष जितनी चुनौतियां

खड़ी है, उतनी इतिहास में दूर दूर तक देखने को नहीं मिलतीं। जिन गांवों की संस्कृति में लोक का जन्म हुआ, जिसने लोक की जीवंत रस धारा को, अपने हृदय में सुरक्षित रखा वे ही गांव आज टूटते जा रहे हैं। गांव की वह पुरानी पीढ़ी भी समाप्त होती जा रही है जिसका संपूर्ण जीवन श्वास-प्रश्वास की तरह गीतों के ताने बानों पर आधारित था। गांवों में अगर किसी के यहां बच्चे का जन्म होता तो धरती पर एक नये इंन्सान के आने की तरह गीतों से उसका स्वागत किया जाता। अगर किसी के यहां लड़की का ब्याह रचाया जाता, तो गीत की कड़ियों से हर सुहावने प्रभात और संध्या का स्वागत किया जाता। किसी गीत की ही अंगुली पकड़ कर गणेशजी, घर पूछते-पूछते विवाह घर आते और एक बुजुर्ग की तरह, सारे कामों को निर्विघ्न संपन्न करा जाते। गीत की पंक्तियों के साथ ही मंडप तैयार होता था और उस मंडप पर हरी टहनियों के साथ ही साथ गीत की कुछ कड़ियों को भी छा दिया जाता था। गीत की सहस्त्र धाराओं से वर-वधू को स्नान कराया जाता। मांगलिक तिलक लगाया जाता और वैदिक मंत्रों की तरह उनके लिए सुख और समृद्धि को न्योता जाता था। जब कन्या की विदाई होती तो गीत की कुछ पंक्तियां उसे दूर तक पहुंचाने का साथ निभाती थीं। लड़की की विदाई पर पिता के रोने से गंगा में बाढ़ आती, माँ के रोने से आकाश में अंधेरा छा जाता और भाई के रोने से उसकी धोती पांवों तक भीग जाती थी। इन गीतों में मानसरोवर की तरह पिता, भरे पूरे भंडार की तरह श्वसुर, बहती गंगा की तरह मां, भरी पूरी बावड़ी की तरह सास, गुलाब के फूल की तरह बच्चे और उगते सूर्य की तरह स्वामी के रूप में ऐसी उदात्त कल्पनाएं संजोई हैं, जिनको लेकर हमारा पारिवारिक जीवन समृद्ध होता आया है।

लेकिन अब तो वे गोकुल से सहज सरल गांव नष्ट होते जा रहे हैं, जहां स्त्रियां बड़ी भोर में उठकर आटे के साथ घने अंधेरे को भी पीसकर, सुहावने प्रभात में बदल देती थीं। जहां चक्की के हर फेरे के साथ गीत की नयी पंक्तियां उठती थीं। लगता था जैसे श्रम में से संगीत का जन्म हो रहा हो और संगीत लोरी बनकर श्रम को हल्का करने में अपना योगदान दे रहा हो। ऐसे में गीत के बोल चलतेः *निर्मल चांदनी रात फैली हुई है, तारे का उदय कब होगा। तारे का उदय तो पिछली रात में होगा, जब पड़ोसिन जाग जायेगी और दही बिलौनी की आवाज के साथ चक्की का स्वर गूंजेगा।* अब गांव में कोई मजदूर यह गाते हुए नहीं मिलेगा कि "हे धरती माता अपने हृदय को जरा नरम बना लो, ताकि पिया की पीठ को सहलाने वाली मेरी हथेली में छाले न पड़ जायें," अब कोई किसान हल की मूठ के साथ यह गाता नजर नहीं आयेगा कि "हे सूरज तुम धीरे धीरे तपो ताकि मेरी स्त्री के सिर पर ऊगा हुआ कुमकुम का दूसरा सूरज पिघल न जाये।"

उन गीतों में समष्टि के दुःख दर्द, हास उल्लास और व्यथा को वाणी देने का प्रयास किया गया है। लोक की भाषा में रचना करके कोई कवि तो कहला सकता है, लेकिन उसका गीत लोकगीत का दर्जा नहीं पा सकता। मनुष्य जब तक अपने नाम को लोक की गंगा में विसर्जित नहीं करता, तब तक उसका गीत लोकगीत नहीं कहलाता।

लोक साहित्य की दूसरी विशेषता यह रही है कि वह भाषागत विभिन्नता लिये होने पर भी भावों की दृष्टि से एक ओर अभिन्न रहा है। चाहे कन्या गुजरात की हो या राजस्थान की, निमाड़ की हो या मालवा की, बेटी की विदाई के समय के सारे गीतों में एक जैसा दर्द मिलेगा। इसमें पिता के रोने मे उसकी धरती पांव तक भीग उठती है, लेकिन भौजाई की आंख में आंसू तक नहीं आते।

जैसे चिड़िया तिनके से घोसला बुनती है, ऐसी लोकभाषाएं सहायक नदी की तरह अपने दानों कूल किनारों से विपुल शब्द संपदा गीत, कथा और कहावतें लेकर राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता को संपन्न बनाने में अपना योगदान देती आई हैं।

लोक साहित्य में व्यक्ति तब तक नहीं गाया जाता जब तक कि वह समष्टि की किसी उदात्त कल्पना का मूलाधार न बने। इसमें राम सीता, शिव पार्वती, दशरथ, कौशल्या और नंद, यशोदा भी तभी स्थान पाते हैं जब वे अपने देवत्व को भूल मानवीय स्वरूप मे अवतीर्ण होकर मनुष्य के सुख दुःख में साथी हो उठते हैं। इनमें किसी के भी घर पुत्र के जन्म लेने पर बधाई बाबा नंद के घर ही भेजी जाती है।

हिंदी साहित्य में पुनरावृत्ति को दोष माना गया है, लेकिन लोक साहित्य में एक ही पंक्ति को बार-बार दोहराने की परंपरा रही है। उसका यह दावा नहीं है कि वह जो कह रहा है, वह नया है, वरन् यह दावा है कि वह जो कह रहा है, लोक द्वारा मथित, ग्रहित और मान्य रहा है। पंक्तियों को बार-बार दुहराने से गीत को याद रखने मे सुविधा रहती है।

लोक साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता रही है कि उसमे असुंदर अमंगल के लिए स्थान नहीं होता। उसमें किसी के भी आंगन मे चंदन से चौक पूरे जाते हैं। वर वधू को सवा घड़े दूध से स्नान कराया जाता है और हीरे तथा मोतियों के थाल से बधाया जाता है। उनमे मक्खन की पाल से बंधे तालाब होते हैं और रेशम की डोर से बंधे सोने और रूपे के घड़ों से पानी भरने वाली अनिंद्य सुंदरियों का वर्णन पाया जाता है।

चित्रकला

लोक कला में भित्ति चित्रों का अत्यंत ही महत्वपूर्ण स्थान रहा है। जैसा कि एक बार आचार्य यामिनी राय ने कहा था, *"कोई भी कलाकार भीत को सूनी नहीं देख सकता।"* लगता है, लोक कला के चितेरे उक्त भावना को मूर्त स्वरूप देते आये हैं। आप किसी भी गांव मे चले जाइये, वहां के साधारण से मकानों की दीवारों को भी आड़ी टेढ़ी रेखाओं से अंकित भित्ति चित्रों से चित्रित पायेंगे।

इन चित्रों का प्रचलन कब हुआ, यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। लेकिन लगता है कि आदिकाल का आदि मानव जब वर्षा की झड़ियों में अपनी गिरि कंदराओं में घिर गया होगा, तब उसके मन में रोटी और सेक्स की जगह एक नयी भूख जगी होगी और उसने अपने नजदीक पड़ी खड़िया मिट्टी से सामने की विशाल पर्वत शिलाओं पर कुछ आड़ी टेढ़ी आकृतियां खींच दी होगी। अपने एकांत के क्षणों में उसके द्वारा खीची

गयीं ये आकृतियां ही आज 'आदिम कला' के नाम से प्रसिद्ध रही हैं।

यद्यपि इन्हें लोक कला नहीं माना जाता, कारण जिस युग में इनका निर्माण हुआ उस युग में समाज का संगठन नहीं हुआ था। इसीलिये इन्हें व्यक्ति मानव द्वारा निर्मित प्रागैतिहासिक काल के चित्र कहा जाता है। बाद में जैसे मनुष्य का विकास हुआ होगा और वह गिरि कंदराओं को छोड़कर अपने हाथ से निर्मित घरों में रहने लगा होगा, वैसे वैसे इस कला का भी विकास हुआ होगा और यह शिलाखंडों से आगे बढ़कर भित्ति चित्रों के रूप में प्रतिष्ठित हुई होगी।

सुदूर द्वापर युग में भी चित्रकला का प्रचलन पाया जाता है। कहते हैं कि एक बार बाणासुर की कन्या उषा, स्वप्न में देखे गये कृष्ण के पुत्र अनिरूद्ध पर मुग्ध हो गई। दूसरे दिन जब उसकी सहेली चित्रलेखा ने उसकी उदासी का कारण पूछा तो उसने स्वप्न की बात कह सुनाई। एक क्षण तो वह स्वप्न पुरूष पर रीझने की घटना से स्तब्ध रह गई होगी लेकिन दूसरे ही क्षण उसने अपनी सहेली की उदासी दूर करने का उपाय खोज निकाला होगा। कहते हैं, उसने एक के बाद एक उस युग के श्रेष्ठ पुरूषों के चित्र बनाकर उषा से पूछना शुरू किया कि जिसे तुमने स्वप्न में देखा क्या वह यह है? चित्रलेखा ने जब कृष्ण का चित्र बनाया तो उषा बोली कि वह तो नहीं है लेकिन इनका चेहरा उससे मिलता है। तब तुरंत ही उसने कृष्ण के पुत्र अनिरूद्ध का चित्र बनाया और उसे देखते ही उषा का चेहरा प्रसन्नता से खिल उठा। और दोनों में प्रणय संबंध स्थापित हुआ। उस युग में चित्रकला के माध्यम से स्वप्न में देखे गये पुरूष को खोज निकालने का यह तरीका कितना सुंदर है!

लेकिन चित्रकला ने एक ओर जहां उषा को अनिरूद्ध से मिलाया वहीं दूसरी ओर सीता को राम से अलग करा दिया। एक भोजपुरी लोकगीत मे इसकी अत्यंत ही करूण कथा अंकित है। कहते हैं एक दिन सीता की ननद ने सीता से आग्रह किया कि जो रावण तुम्हें हर कर ले गया था, उसका चित्र बनाकर दिखाओ।

सीता ने कहा—''मैं उसका चित्र तो बनाकर दिखा सकती हूं, पर तुम्हारे भाई सुनेंगे तो मुझे देस निकाला दे देंगे।''

ननद ने शपथ खाकर विश्वास दिलाया कि मैं इस बात को भाई तक नहीं पहुंचने दूंगी।

तब लाचार सीता ने गंगाजल मंगाकर और सामने की कोठरी की दीवार को लीप पोतकर उस पर रावण का चित्र बनाना शुरू किया। पहले उसने उसके हाथ बनाये फिर पैर बनाये और फिर आंखें बनाई। इतने में राम आ गये तो सीता ने घबराकर उसे आंचल से ढंक लिया।

लेकिन ननद को यह बात हजम नहीं हुई और उसने रोटी खाते समय राम से चुगली खाकर कह दिया कि ''हे भाई! तुम्हारा जो बैरी रावण है न, उसका चित्र भौजी ने बनाया है।''

सुनते ही राम गुस्से से लाल हो उठे और उन्होंने सीता को देस निकाला दे दिया।

भले ही इस घटना में कोई ऐतिहासिक तथ्य न हो लेकिन इससे रामायण काल में भित्ति चित्रों के प्रचलन का पता चलता है।

भित्ति चित्र : लोक विश्वास

आज भी अनेकों जातियों में यह प्रथा प्रचलित है कि जब नयी बहू घर में प्रवेश करती है तो उसे अपने हाथ से घर की दीवार पर कुछ चित्र बनाने होते हैं। ये चित्र मांगलिक जीवन के प्रतीक माने जाते हैं।

विवाह के समय सूप पर एक कपड़ा चढ़ाकर उस पर स्त्रियों के द्वारा माता का चित्र बनाया जाता है और समस्त पारिवारिक जनों के द्वारा उसकी पूजा की जाती है। मातृपूजा के बिना कोई भी वैवाहिक कार्य संपन्न नहीं होता। मातृपूजा के जरिये चित्रपूजा का यह कैसा सुंदर आयोजन है!

जिन घरों में दूध दही होता है, वहां पर प्रत्येक पंचमी या अष्टमी के दिन दूध की मलाई से दीवार पर नाग के चित्र बनाये जाते हैं।

जो स्त्रियां चंद्रायण का व्रत करती हैं उनके द्वारा दीवार पर चंद्रमा का चित्र बनाकर उसकी पूजा की जाती है।

दशहरे पर दशहरा मांड़ने का रिवाज प्रायः सब जगह पाया जाता है।
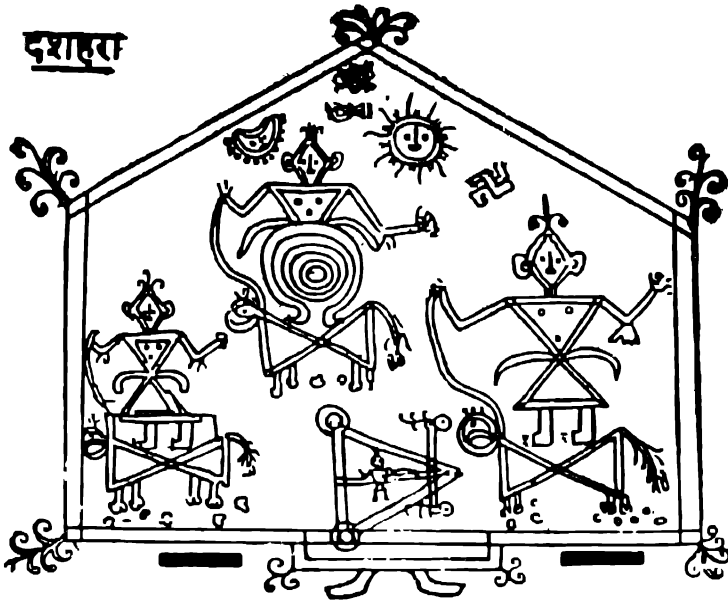
मालवे में बड़े बड़े त्यौहारों और शादी ब्याह के अवसर पर लाल गेरू से थापे बनाने का प्रचलन है।

कुरू जनपद में दीवाली से एक सप्ताह पूर्व अष्टमी के दिन अघोही माता का चित्र बनाकर पुत्रवती स्त्रियों के द्वारा उसकी पूजा की जाती है।

श्री राहुल सांकृत्यायन के मत से विभिन्न जनपदों में निम्नलिखित थापे मांड़ने का रिवाज पाया जाता है :-

नाग पंचमी का थापा, सावन पूर्णमासी का थापा, होई माता का थापा, दीवाली का थापा, कार्तिक एकादशी का थापा, आठों का थापा, देवी का थापा, नवमी का थापा, ब्याह शादी का थापा।

बुंदेलखंड में दीपावली के अवसर पर लक्ष्मी पूजा के रूप में सुराती का पूजन किया जाता है। इसमें दीवार पर एक मंदिर में लक्ष्मीनारायण की मूर्ति अंकित की जाती है और उसके आसपास क्रमशः नाग नागिन, सूर्य देवता, सप्तर्षि मण्डल, श्रवणकुमार, माता बालक सहित तथा गोवर्धन आदि के चित्र अंकित रहते हैं।
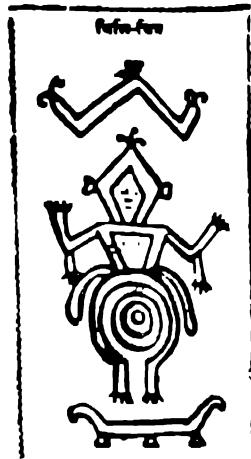
निमाड़ जनपद में पाये जाने वाले भित्ति चित्रों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहले रंगों से बनाये जाने वाले भित्ति चित्र जैसे 'जिरोती और नाग', दूसरे गोबर मिट्टी से बनाये जाने वाले भित्ति चित्र जैसे—'सांझाफूली।'

जिरोती

रंगों से बनाये जाने वाले भित्ति चित्रों में जिरोती सबसे सुंदर होती है। इसे यदि यहां के जन जीवन में लोक कला के प्रति रूचि बनाये रखने का एकमात्र माध्यम कहें तो भी अत्युक्ति नहीं। वर्षा के सुहावने मौसम में जबकि प्रकृति भी नित्य नवीन फूलों से अपना श्रृंगार करती है, हरियाली अमावस्या के नाम से प्रसिद्ध श्रावन कृष्ण अमावस्या के दिन यह त्यौहार आता है। करीब एक सप्ताह पूर्व से ही इसके स्वागत की तैयारियां शुरू हो जाती हैं। छोटी छोटी कटोरियों में हरे, लाल, नीले और पीले रंग घोले जाते हैं और तूवर की छोटी छोटी काड़ियों में रूई लपेटकर ब्रुश तैयार किये जाते हैं। घर के गोबर से लिपी दीवार
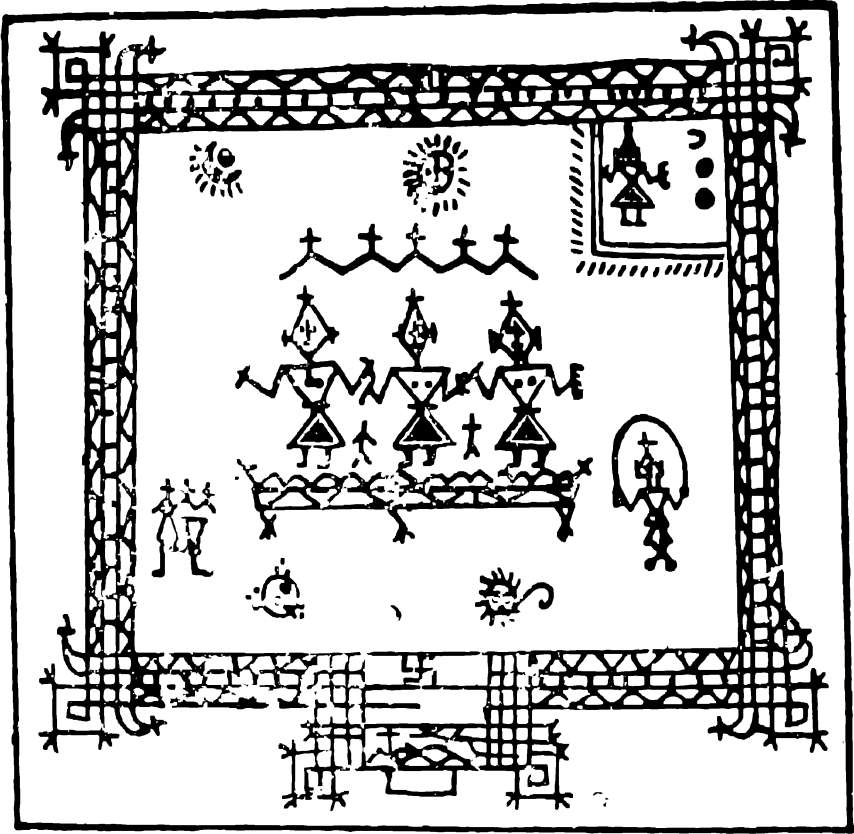
ही चित्र बनाने की पृष्ठभूमि (कैनवास) का काम देती है। प्रायः मध्य घर के दरवाजे के दोनों ओर के दो भाग ही चित्र बनाने के लिये चुन लिये जाते हैं। सबसे पूर्व उक्त भाग को लाल गेरू से पोता जाता है और फिर उस पर करीब एक फीट लंबा और एक फीट चौड़ा आम चौरस चौखटा तैयार किया जाता है। इस चौखटे के फ्रेम को भी विभिन्न रंगों एवं बेल बूटों से सजाया जाता है। फिर इस चौखटे के बीचों बीच इस त्यौहार की आधिष्ठात्री देवी जिरोती की तीन खड़ी हुई आकृतियां बनाई जाती हैं। प्रतिष्ठा की दृष्टि से इनके नीचे एक सिंहासनरूपी पालना होता है तथा ऊपर एक छत। चूँकि बच्चों की रक्षा करने वाली देवी के रूप में ही इस त्यौहार की मान्यता है अतएव प्रत्येक आकृति के साथ-साथ एक-एक बच्चे का भी चित्र रहता है। इस चित्र के आसपास अनेकों छोटे-छोटे चित्र होते हैं। जैसे ऊपर के कोने में एक दही बिलोने वाली का चित्र, बीच में चांद और सूर्य और नीचे दो बालिकाएं फुगड़ी खेलती हुई दर्शायी जाती है। बगल में एक ओर सांप और बिच्छू बने होते हैं तथा दूसरी ओर गृह जीवन के मांगलिक प्रतीक पांच हथेलियां तथा एक स्वस्तिक का चिन्ह अंकित होता है। इनमें सांप और बिच्छू मृत्यु के तथा चांद और सूर्य शाश्वत

पिथोरी का श्रेष्ठ चित्रांकन
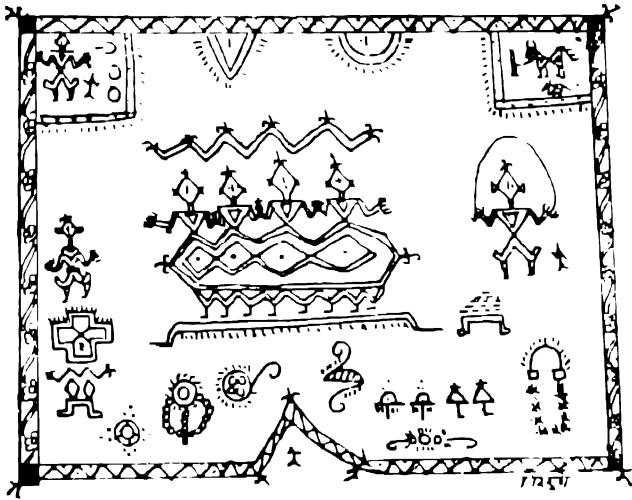
जीवन के प्रतीक रहे हैं।

यह एक आश्चर्यजनक संयोग की बात है कि इन चित्रों का स्वरूप प्रागैतिहासिक काल के चित्रों से अत्यधिक मिलता है, शायद इसका कारण यह हो कि जिस तरह की रेखाओं से उन आकृतियों का निर्माण हुआ है उसी तरह की सरल सीधी रेखाओं से इन आकृतियों का भी निर्माण हुआ है। जैसे इनमें मनुष्य की आकृति बनाने के लिये सबसे पहले एक गुणित का चिन्ह बनाया जाता है। और उसे ऊपर और नीचे बंद कर देने से आदमी का धड़ बन जाता है। उसके नीचे दो खड़ी लकीरें खींच देने से पांव बन जाते हैं और उसके नीचे दो छोटी छोटी आड़ी लकीरें खींच देने से पांव के पंजे बन जाते हैं। धड़ के ऊपरी हिस्से से दो खड़ी लकीरों को पहिले नीचे लाकर फिर कुछ ऊपर की ओर बढ़ा देने से दो हाथ बन जाते हैं तथा उसके छोर पर दो छोटी-छोटी आड़ी लकीरें खींच देने से
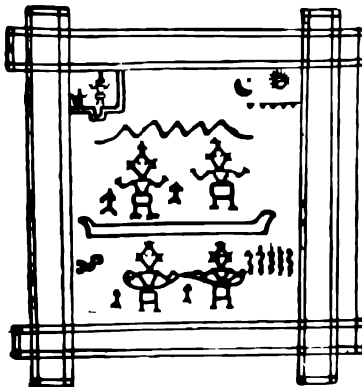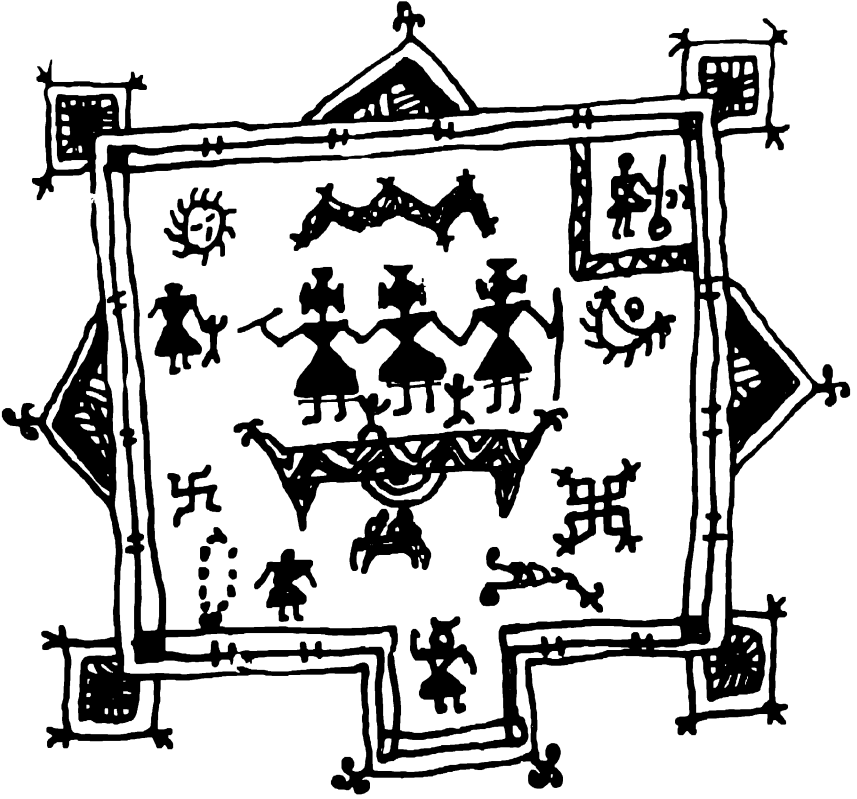
हथेली बन जाती है। धड़ के ऊपर एक अर्ध-गोलाकार, वृत खींच देने से सिर बन जाता है और उसमें महज कुछ आड़ी टेढ़ी रेखाओं के माध्यम से नाक कान और मुंह बना दिये जाते हैं। बच्चे का चित्र बनाने के लिये इससे भी सरल तरीका काम में लाया जाता है। इसमें एक खड़ी लकीर के ऊपरी और नीचे के सिर पर दो दो तिरछी लकीरें खींच देने से बालक की आकृति बन जाती है।

लोक-कला के चितेरों की यह मान्यता रही है कि चित्र में जब तक आंख नहीं बनाई जाती तब तक उसमें प्राण नहीं आते। अतएव पूरे सात दिनों तक घर की बहू बेटियों के द्वारा इन चित्रों को विभिन्न रंगों मे सजाने संवारने के पश्चात् ठीक अमावस्या के दिन स्नान करके किसी अन्य की दृष्टि तक न पड़े ऐसे एकांत क्षणों में पुतलियों की आंखें बनाकर उनमें प्राण प्रतिष्ठा कर दी जाती है। और तब समस्त पारिवारिक जनों के साथ उसकी पूजा करके इस त्यौहार की समाप्ति हो जाती है। जिरोती के संबंध में यह मान्यता रही है कि यह छोटे छोटे बच्चों की रक्षा करने वाली देवी है। इस संबंध में एक कथा भी प्रचलित है कि जरासंध को जब उसकी सौतेली मां ने चीरकर फेंक दिया तब जिस बहन ने उसकी रक्षा की, वही आज जिरोती के नाम से पूज्य है।

इसका धार्मिक स्वरूप चाहे जो कुछ भी रहा हो, इतना तो सच है कि यदि निमाड़ में जिरोती का त्यौहार नहीं होता तो निमाड़ के घरों की दीवारें चित्रों से सूनी होतीं।

नाग

नाग-जिरोती की ही तरह जिरोती से सिर्फ पांच दिन पश्चात श्रावण शुक्ला पंचमी के दिन नाग बनाये जाते हैं। जिरोती जहां लाल जमीन पर पीली रेखाओं एवं विभिन्न रंगों के माध्यम से बनाई जाती है वहां नाग सफेद जमीन पर काले रंग से बनाये जाते हैं।
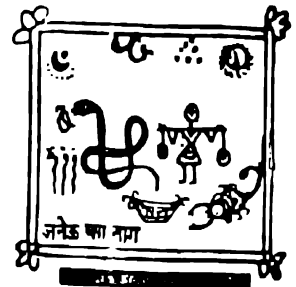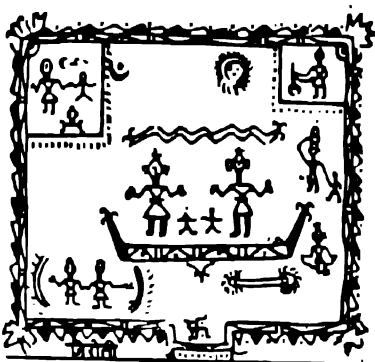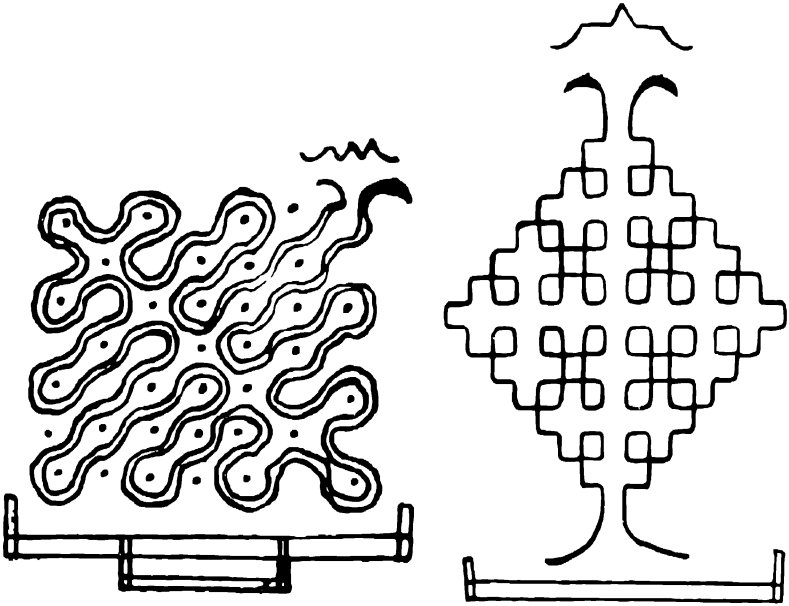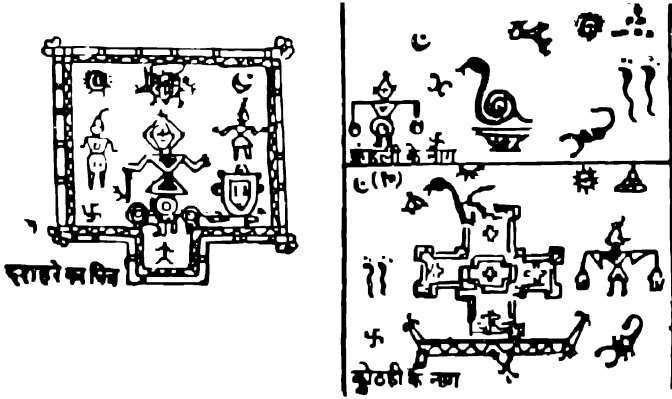
ये रंग भी गांवों में ही सहज प्राप्त चाक मिट्टी एवं कोयले से तैयार कर लिये जाते हैं। इनमें आकृति का नहीं रेखांकन का मूल्य होता है। इसी से बिना कूँची (ब्रश) उठाये आठ बारह और सोलह कुण्डलियों तक के नागों का निर्माण किया जाता है। इनके आसपास सपेरा, वावल्ला (सांप के रहने का बमीठा) बिच्छू तथा चाँद और सूर्य के भी चित्र बनाये जाते है। पश्चात् जिरोती की तरह इनकी भी आंखें बनाकर इनमें प्राण प्रतिष्ठा करके इनका पूजन किया जाता है। चित्र पूजा का यह कैसा अनुपम आयोजन है। इन चित्रों को पूरे वर्ष भर तक सुरक्षित रखा जाता है।

सांजी

सांजी-कुवार के महीनों में जब बादल छंटने लगते हैं, संध्यायें रंगीन होकर उतरती हैं तथा खेतों एवं खलिहानों तक की बागुड़ों पर फूल खिल आते हैं तथा फूलों की ही तरह सुकुमार बच्चियों के द्वारा सांझाफूली का त्यौहार मनाया जाता है।

इस प्रतिपदा के दिन छोटी-छोटी बच्चियों के द्वारा अपने घर की दीवार के एक हिस्से को लीपकर उस पर प्रकृति के सहज उपादान गोबर से, संजा देवी एवं चांद सूरज आदि की विभिन्न आकृतियां बनाई जाती हैं। जैसे-जैसे तिथियां बढ़ती जाती हैं वैसे वैसे इन आकृतियों की संख्या भी बढ़ती जाती है और अमावस्या के दिन से भित्ति चित्र संपूर्णता प्राप्त कर लेते हैं। संध्या देवी की आकृति का स्वरूप भी बच्चों के अनुकूल अत्यंत को सहज होता है। इनमें महज एक गोलाकार वृत को तनिक नीचे तक बढ़ा देने एवं उसके ऊपर एक अर्धवृत्त खींच देने से मानव आकृति बन जाती है। प्रतिदिन संध्या समय गेंदा, गुलपाती, गुलबांस, चंपा, चमेली और कनेर आदि फूलों को रंग बिरंगी पंखुड़ियों से इन्हें सजाया संवारा जाता है और सुकोमल पंखुड़ियों मे ही इनकी पूजा अर्चना की जाती है।

संध्या के उतरते झुटपुटे में जब इन पंखुड़ियों से सजी और गोबर से बनी आकृतियों के सम्मुख नन्हीं बालिकाओं के द्वारा दीप संजो दिये जाते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है मानों

निमाड़ की सांझी परम्परा
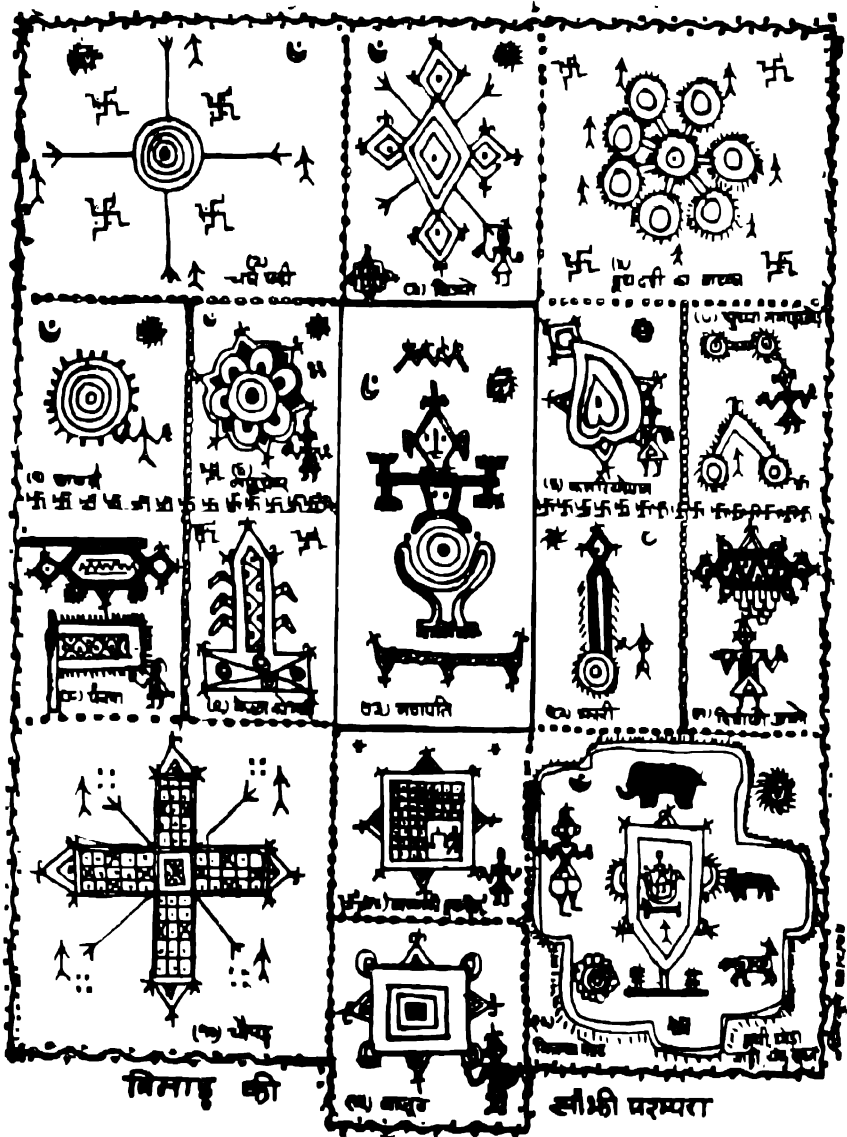
बच्चों के स्नेह भरे अनुरोध से रीझकर संजा स्वयं रंग बिरंगी किरणों को ओढ़नी ओढ़ सुकोमल पर चरण धर घर के आंगन मे उतर आई है और यों सांझ फूल और बच्चों का यह त्यौहार समाप्त हो जाता है।

इस तरह जिरोती, नाग और सांजी का निमाड़ के भित्ति चित्रों में महत्वपूर्ण स्थान है। □

लोककथा और संस्कृति

आस्था और विश्वास के जगन्नाथ

डॉ. विद्यानिवास मिश्र

मैं पुरी कई बार गया और हर बार कुछ नए अनुभव हुए। पर अभी-अभी पुरी के जगन्नाथ विश्वविद्यालय के अनुरोध पर गया तो मुझे जो कुछ देखने-सुनने को मिला, अपूर्व था।

कलिंग अपने आप में प्राचीनता और कलात्मकता में दर्शनीय है। अशोक का धौली शिलालेख यहीं है। खारवेल का हाथी गुंफा लेख यहीं है। यहीं उदयगिरि गुफाओं में रामकथा के सबसे पुराने अंकन हैं, यहीं कोणार्क का जगत प्रसिद्ध सूर्य मंदिर है, यहीं लिंगराज, केदार, गौरी और अनंत वासुदेव के भव्य मंदिर हैं, यहीं साक्षी गोपाल का मंदिर है, जहां 'सखी भराए' बिना तीर्थ यात्रा पूरी नहीं होती और यहीं जाने कब से असंख्य श्रद्धालुओं को अपनी ओर आकृष्ट करने वाली पुरी, पुरी है—श्री जगन्नाथ का धाम। इस धाम से जुड़े नाम अनेक हैं। उनमे आदि शंकराचार्य, भक्तकवि जयदेव, चैतन्य महाप्रभु, जगन्नाथ दास, कबीर और तुलसी के नाम उल्लेखनीय हैं। आज भी देश-विदेश के लोग अपार कुतूहल से आते हैं। क्या जादू है इस स्थान का, लाख-लाख व्यक्ति बिना किसी संकोच के जगन्नाथ जी का प्रसाद प्रेम से पा जाते हैं? युगों-युगों से कोई भेदभाव नहीं? क्या जादू है कि जगन्नाथ जी की रथ-यात्रा आषाढ़ (जुलाई) में होती है तो लाखों व्यक्ति उस भारी रथ को खींचने के लिए जुट जाते हैं? कैसा अपूर्व संगठन है कि आज कम से कम एक हजार वर्ष से ऐसी व्यवस्था चली आ रही है पीढ़ी-दर-पीढ़ी! सूपकार हैं, रसोइए हैं, इनमें भी एक-एक काम के लिए परिवार बंटे हुए हैं उनके हक बंटे हुए हैं, पीढ़ी-दर-पीढ़ी। फूल लाने वाले हैं, माला गूंथने वाले हैं, चंदन पीसने वाले हैं, भोग लगाने वाले हैं, आरती करने वाले हैं, व्यजन डुलाने वाले हैं, भीतर पूजा करने वाले अलग, बाहर से पूजा करने वाले अलग, वेश-भूषा-श्रृंगार सजाने वाले हैं, कपड़े सिलने वाले हैं, गायक-वादक हैं, पहले नर्तक-नर्तकी भी थे, अब प्रतीकात्मक रूप में शयन के पूर्व जयदेव की एक 'अष्टपदी' गायी जाती है और एकांत में नृत्य निवेदन होता है। गजपति राजा भी जगन्नाथजी का सेवक है, रथ यात्रा के समय वही झाड़ू-बुहारू करता है। जगन्नाथ जी के नाम पर धान के खेत हैं, गायें हैं, पूरा राजसी ठाठ-बाट है और स्वयं जगन्नाथ जी काठ हैं। उन्हें घड़ी-घड़ी पर तो भोग लगता है, उन्हें भूख बहुत लगती है। जाड़े में एक महीने यशोदा माता खुद आकर सवेरे-सवेरे गरम-गरम खिचड़ी अपने लाल को खिलाती हैं। हर ऋतु में अलग-अलग परिधान पहनते हैं। बढ़िया से बढ़िया इत्र छिडकाव होता है इनके वस्त्रों पर। साल में एक बार, नाजुक हैं इसलिए बुखार हो जाता है। कई दिन तक दवा लेते हैं, पथ्य लेते हैं। एक

बार वही आषाढ़ में मौसी के यहां जाते हैं, गुंडुची मंदिर, वहीं निवास दस-बारह दिन होता है। लौटते हैं तो पट बंद, लक्ष्मी जी नाराज, मुझे किनारे छोड़ दिया, अब मैं तुम्हें घर में नहीं आने दूंगी, मनावन होता है, तब जगन्नाथ जी को फिर अनुमति मिलती है। यही क्रम चल रहा है। 'दर्शन' कराने वाले पंडों की जजमानी भी बंटी हुई है, बहियां पुरानी पड़ी हुई हैं, बाप-दादों के नाम वहां दर्ज हैं। उनके हस्ताक्षर भी हैं। तब भी कभी-कभी अनायास 'कुछ' होता रहता है पर बहुत सहज रूप में। बस जगन्नाथ जी यह सब अलिखित विधान से चला रहे हैं।

नए हिंदुस्तान में कितनी संस्थाएं बनीं और एक-एक करके टूटती गयीं या फिर लुप्त होती गयीं या फिर अपने पथ से विचलित होती गयीं। बड़ी जनतांत्रिक संस्थाएं भी अधोगति को प्राप्त हुईं। पर यहां कोई जनतांत्रिक पद्धति नहीं, कोई चुनाव नहीं—सब अपने आप में स्वायत्त और एक-दूसरे के पूरक। व्यवस्था चल रही है। समाज शास्त्री अचरज करते हैं। हिंदुस्तान में यह कैसे संभव होता है? नए लोगों को यहां के पंडों से कुछ असुविधा होती है। ऐसे लोग उनसे किसी बात पर उलझ भी जाते हैं पर यह इन्हीं की कृपा है कि पुरीधाम मामूली लोगों की परिधि के भीतर बना हुआ है।

ऐसे जगन्नाथ की नगरी में अभी कुछ समय पहले शाम होते-होते पहुंचा। समुद्र के किनारे राजभवन के अतिथि के रूप मे ठहरा। पूर्णिमा अभी दो दिन बाद थी इसलिए ज्वार का समय अभी आया नहीं था। कुछ समय बाद सहस्र फणधारी अनंत के मुकुट के हीरे चमक उठे—चांदनी रात मे कुछ ज्यादा ही। लंबी सांस खीचकर अनंत महाव्याल प्रभु के चरणों में सिर झुकाने चल पड़ा—तट पर उसने पछाड़ खायी प्रभु के चरण नहीं मिले। और कुपित हुआ, दहाड़ने लगा, तट की बालू पर अपनी झुंझलाहट उतारने लगा, लहर पर लहर, लहर पर लहर। मैं चुचाप सीढ़ियों के समीप पहुंच गया और अनंत को पछाड़ खाते देखने लगा। भागवत का वह श्लोक याद आया जिसमें द्वारका की पटरानियां श्रीकृष्ण के द्वारका के बाहर जाने पर विरह विलाप करती हुई कहती हैं—"बेचैन समुद्र, तुम भी घनश्याम के चक्कर मे हमारी तरह पड़ गए हो और भीतर-भीतर मथे जाते रहते हो, बिलखते रहते हो, दहाड़ मार-मार कर उस 'काले' को कोसते रहते हो, जिसने तुम्हारी नीलिमा चुरा ली है तुम्हारे प्राण की धरोहर रखकर कहीं चला गया है।"

मुझे समुद्र का ज्वार बराबर आपूरित कर देता है। जगन्नाथ विष्णु रूप में इसी अनंत की शय्या पर सोते हैं। यह सहस्र शीर्षा शेषनाग है, यही समस्त व्यक्त सृष्टि का अवशेष अव्यक्त रूप है। इसी में से सूर्य की किरणें रस खींचती हैं। वे रस की बूंदें भाप बनकर बादल बनती हैं। वही अनुकूल प्राण शक्ति से प्रेरित होकर रस वृष्टि करती हैं। इसी सिंधु से बिंदु उछलती है, किसी मुखचंद्र से आकृष्ट होकर और दूर आकाश में विचरण करती है, फिर समुद्र में ही चुपके से विलीन हो जाती है। उस बिंदु का उछाह कविवर 'नलीन' के शब्दों में 'एक विंदु इंदु मथित सिंधु लहर छोड़ चली।' पाने को मन करता है पर उसकी झलक तो इतनी क्षणिक है और समुद्र के फेन का रंग इतना उजला और पसरा हुआ है

कि वह विंदु शरमा जाती है। क्या तुम्हीं ने चैतन्य महाप्रभु को समुद्र चिंतन में बहुत देर खोया रहा? फिर एक खुमारी में लौट आया।

मेरे साथ श्री पुरोहित थे—राज्यपाल के सलाहकार। वही मेरे पथ निर्देशक थे। उनसे कहानी पर कहानी सुनता रहा। जगन्नाथ को केंद्र में रखकर पूरा पुराण रच गया है। इतिहास अलग कुछ पत्थर की पटियों में सोया पड़ा है, पर पुराण जागता रहता है। यहीं के प्रमुख भक्त हुए हैं जगन्नाथ दास। चैतन्य महाप्रभु जगन्नाथ जी के विग्रह को देखते-देखते दीवाल से टेक लगाकर खड़े-खड़े ध्यान मग्न हो गए, मन ही मन ध्यान में उन्होंने माला गूंथी, माला चढ़ानी चाही, माला भगवान के गले में चढ़े न। इधर पार्श्ववर्ती भक्त जगन्नाथ दास चैतन्य महाप्रभु के ध्यान में मग्न हो गए। उन्होंने उनकी मानसिक परेशानी देखी, माला चढ़ नहीं रही है, उन्होंने ध्यान में ही संकेत दिया, माला की गांठे खोल दीजिए, प्रभु गांठों वाली, ग्रंथि वाली माला, अभिरूचि वाला मन कितना भी सुंदर क्यों न हो, स्वीकार नहीं करते, प्रभु इसकी गांठे खोलिए। चैतन्य महाप्रभु पसीने पसीने हो रहे थे, उन्हें भक्त ने संकेत किया। कितनी बढ़िया बात है और गांठें खुल गयीं—सभी गांठें खुल गयीं। तभी तो चैतन्य महाप्रभु इसी पुरी में समुद्र के ज्वार में अपार ज्वर बनकर समा गए।

जगन्नाथ जी का भोग लगनेवाला था, भीतर मंडप तक जाने की अनुमति मिल गयी थी अपार भीड़ में भीतर पहुंचा। नजदीक से देखा, विग्रह पूरे नहीं हुए। पुरोहित जी ने कहा कि विश्वकर्मा ने जब समुद्र से उतार कर निकाले गए प्राचीन दारुखण्ड को मूर्त्त आकार देना शुरू किया तो उन्होंने शर्त रखी, कोई ताक-झांक न करे। लोग अधीर, किसी ने झांका, बस मूर्ति जितनी बनी थी, उतनी ही बनी रह गई। बांहें बनीं, हाथ नहीं बने। शायद इसीलिए भगवान को जो भोग लगाता है वह दर्पण के आगे लगाता है, भगवान उस प्रतिबिंब को ही ग्रहण करते हैं। समस्त संसार ही जिसकी छाया हो, जिसका प्रतिबिंब हो वह इस सत्ता के रस का प्रतिबिंब ही बिलसे, यह अपूर्व नाटकीय विडंबना है। इसीलिए तो नहीं, उन्हें जून-जून पर बड़ी भूख लगती है। उनकी भूख मामूली थोड़े ही है, वह तो लाखों लाखों पुरवासियों, यात्रियों, कंगालों, दूसरे प्रकार की भूख के मारे अमीरों की भूख निवार कर ही मिटती है। भगवान का भोग आनंद बाजार में बिकता है। भोग बनता भी कैसे है, हंड़िया पर हंड़िया रखी जाती है, चावल की, दाल की, छप्पन भोग शुद्ध सात्विक तैयार होते हैं, कोई मसाला नहीं, कोई छौंक नहीं, ऊपर से घी जरूर पड़ जाएगा। नयी हंड़िया में पकने पर और भगवान को अर्पित होने पर, उसके बाद विमला के द्वारा दृष्टि पूत होने पर वह महाप्रसाद बनता है। लोग भात के कण सुखाकर अपने घर ले जाते हैं। पुरी के आसपास के विवाह का भोज भगवान के महाप्रसाद से ही संपन्न होता है। लगभग दो हजार तो स्थायी रसोइए हैं। भगवान ने एक हजार वर्षों से अपना भोजन-प्रकार नहीं बदला। वे नियमित 'डायट' (भोजन-विधि) पर रहते हैं। पर भगवान आखिर हैं तो पुरूषोत्तम (उनम पुरुष) काठ बने ही सही पर हैं तो मनुष्य। उन्हें साल में एक बार वह भी नियमित समय पर ज्वर होता है। तब आयुर्वेद की दवाओं का काढ़ा लेते हैं। पथ्य लेते हैं। नीरोग होते

हैं तो जरा मन बदलने के लिए इस घेरे से बाहर मौसी के डेरे पर जाते हैं। बारह दिन तक भोग प्राप्त करते हैं। यही नहीं, एक सौ चालीस वर्ष बाद कलेवर बदलते हैं।

दूसरा विग्रह वैसा ही अर्ध-निर्मित निर्मित होता है। धूम धाम, बाजे-गाजे के साथ वन के भीतर महानीय की खोज शुरू हो जाती है। कुछ विशेष लक्षणों से वृक्ष की पहचान होती है। फिर बड़े अनुष्ठान के साथ उस वृक्ष से अनुरोध किया जाता है, तुम अब भगवान के कलेवर में उतरो, वृक्ष काट कर लोग लाते हैं, दारुकर्म वाले विग्रह बनाते हैं। तब प्राण प्रतिष्ठा के रूप में पूर्व मूर्ति की नाभि में रखा सनातन काल से चला आ रहा शालिग्राम स्थानांतरित होता है। पूर्व मूर्ति की अंत्येष्टि होती है, यह कार्य कोई नितांत वृद्ध पंडा करता है, उसे अशौच्च भी लगता है और जनश्रुति यह है कि वह वर्ष भर के भीतर गोलोकधाम चला जाता है।

ऐसी अद्भुत मानवीय कहानी है जगन्नाथ की। फिर मैंने पूछा कि जगन्नाथ जी यहां क्यों विराजे और सुभद्रा बलदेव के साथ क्यों विराजे? द्वारका डूब गयी इसीलिए ठीक उल्टी दिशा में घुर पूर्व में यहां आए, पटरानियां सब स्वर्ग गयीं पर भगवान सविग्रह आ गए और साथ आ गयी दुलारी बहन। संस्कृत के पंडित हास्य-विनोद में कहते हैं—

एका भार्या प्रकृति मुखरा चंचला च द्वितीया
पुत्रश्चैको भुवन विजयी मन्मथो दुर्निवारः।
शेषः शय्या भवन युदधौ वाहनः पन्नगारिः
स्यारं स्मारे स्वगृह चरितं दारुभूनौ मुरारिः।।

एक पत्नी लक्ष्मी स्वभाव से चंचल, दूसरी सरस्वती वाचाल, लड़का बस एक कामदेव पूरी दुनिया में उत्पात मचाए हुए, शेषनाग ही रोज पानी में घर और सवारी सांप का शत्रु गरूड़।

ऐसे घर की बात सोचते-सोचते भगवान काठ के हो गए—लो जितना चाहे उतना तुम लोग 'रार' मचाओ। और भी अनेकों कहानियां हैं। पर सबसे सही कहानी यही है कि भगवान शबरों के सहज प्रेम से आकृष्ट होकर उनके स्नेह पाश में बंधे यहां आए। इसीलिए ये यहां इतने सहज रहते हैं। इनके लिए कोई शास्त्रीय कर्मकांड भी नहीं है। सब ओड़िया जनश्रुतियों पर आधारित लोक विधान है। वे लोकेश्वर हैं और लोकेश्वर भी नहीं लोकबंधु हैं।

गीतगोविंद के रचयिता जयदेव के बारे में कई कथानक हैं, उनमें एक में आता है, जयदेव कहीं दूर विजन में, रात में गीत रच रहे थे, वस्तुतः गा भी रहे थे। एक धोबिन कपड़े धो रही थी, वह गीत पर नाचने लगी, भगवान मंदिर छोड़कर चले आए और साथ मिलकर नाचने लगे। धोबिन और नृत्यकला की गहराइयों में डूबे भगवान के कीमती वस्त्र उस विजन के काट कूश में तार-तार हो गए। सबेरे भगवान के वस्त्र देखे गए। बदलने चले तो स्वप्न हुआ बदलो मत। उस धोबिन को कीमती वस्त्र दो। जो मेरे साथ नाचकर निहाल हुई। फिर व्यवस्था हुई कि जयदेव अपनी रचना मंदिर में ही करें, भगवान यहीं सुनें।

दूसरी कहानी और मनोरम है। जयदेव ***प्रिये चारु शीले मुञ्च मयि मान मनिदानम्***

वाली अष्टपदी लिखने बैठे—*स्मर गरल खंडनं पत्र शिरसि मंडनम्* इतना लिख चुके—

कलम रूक गयी, भगवान अपने सिर क्या रखना चाहते हैं? राधा का पैर कहें तो भगवान की हेठी होती है। सोच न पाए। उद्विग्न हो गए। उठकर नहाने चले गए। पंक्ति अधूरी लिखी छोड़ दी। भगवान आए जयदेव के वेश में। पद्मावती से कहा, ''जल्दी भोजन परसो भूख लगी है। भोजन पाया, शयन कक्ष में गए वहीं तीसरी पंक्ति लिख दी—

देहि में पद पल्लव मुदारम्

मेरे सिर पर अपने चरण पल्लव रखो। जयदेव कुछ देर बाद आए। फिर से नहा-धो कर कहा—''थाली परसो, भूख लगी है।'' पद्मावती ने कहा, ''बावले हो! अभी-अभी खाकर सोने गए तुम्हें इतनी जल्दी भूख लग गयी? जयदेव शयन-कक्ष में पागल की तरह घूमे—देखा—तीसरी पंक्ति लिखी हुई है और कमरा सुवास से भर रहा है। सिर धुनने लगे कि ''तुम बड़भागी कि भगवान ने तुम्हारे हाथ का भोजन लिया, मैं अभागा कि उन्हें देख नहीं पाया।'' पद्मावती ने कहा—''प्रिय! भगवान तो तुम्हारी रचना में समा गए, तुम्हारी रचना भगवदीय रचना हो गयी, अपने भाग्य सराहो।''

ऐसी कहानियों का छोर नहीं। भगवान जगन्नाथ अद्भुत उपस्थित हैं। मैं दर्शन करने के पहले ही इन कथाओं में भगवान की सहजता पाकर चकित हो गया। जो लोग पुरातत्व के पचड़े में पड़ना चाहते हैं, पड़ें पर इस जीवित वाचिक संदर्भ में जो भगवान बसे हुए हैं, जो घर-घर विराजे हैं उसी काठ मुद्रा में, बड़ी-बड़ी कजरारी आंखें लिए बसे हुए हैं। चित्रकारों और शिल्पियों के जीवन बने हुए हैं। असंख्य-असंख्य पितरों को परम तृप्ति बने हुए हैं और इतना ऐश्वर्य रखते हुए भी परम मानुष बने हुए हैं, इन्हें, इनके भैया बलदाऊ और इनकी नन्हीं गुड़िया-सी बहन सुभद्रा को हमारे मन से कौन छीनेगा?

जगन्नाथ मंदिर का घेरा आनंदमंडप है। यहां मुक्ति, मुक्ति में मिलती है। यहां आने का अर्थ है, अपना 'विशेष' खो देना। धोबिन के साथ नाचने वाले भगवान के फटे वस्त्रों के ऊपर रत्न जटित वेशभूषा न्यौछावर कर देना और जगन्नाथ के दर्शन के लिए पागल सागर की लहरों में अपने को खोकर नया तरोताजा सही आदमी पा जाना। □

लोकगीतों में प्रकृति

डॉ. श्यामसुंदर घोष

लोक साहित्य के विशाल वाङ्मय में से उसके एक हिस्से, या एक विधा लोकगीत और उसमें भी अपेक्षाकृत आदिम रूप—आदिवासी लोकगीतों को लेकर यह अध्ययन रोचक और उपयोगी हो सकता है कि उसमें पशु पक्षी और प्रकृति के जो रूप और प्रकार चित्रित हैं उनसे किन बातों पर प्रकाश पड़ता है। आदिवासी लोकगीतों में से मुख्यत मुंडारी और संताली लोकगीतों को आधार बनाकर हम अपना अध्ययन आगे बढ़ाना चाहेंगे।

मनुष्य अपनी विकास-यात्रा, या जय-यात्रा में दो तत्वों से अधिकतर लड़ता-भिड़ता रहा—एक तो प्रकृति और दूसरा मनुष्येत्तर जीव-जगत। मनुष्येत्तर जीव-जगत में ही पशु-समुदाय है जिससे उसका वास्ता कुछ अधिक रहा। इससे कुछ कम वास्ता उसका पक्षियों से रहा। पशुओं और पक्षियों से उसका यह संपर्क-भेद इसलिए रहा कि पक्षियों के पास पर या डैने थे, वे उससे उड़कर मनुष्यों से दूर जा सकते थे। पशुओं को यह सुविधा नहीं थी। वे तो धरती पर रहने को विवश थे।

जीव जगत में पशु ही मनुष्य का आदिम और निकटतम सहवर्ती है। शायद इसीलिए बहुत जल्द उसने अपने को मनुष्यों की तुलना में, या उसके संदर्भ में जानने समझने की कोशिश की। चार बातों—आहार, निद्रा, मैथुन और भय—की समानता पाकर मनुष्य ने अपने को पशुओं के निकट पाया। इस समानता के कारण ही उसे विचारशील ही सही, पशु कहा गया।

पक्षी मनुष्य के आनंद लोक के संगी कहे गये हैं जबकि पशु घर-आंगन, खेत-खलिहान, जंगल-मैदान में उसका आत्मीय संगी रहा है। इसलिए लोक साहित्य में इन दोनों के प्रति मानव का स्नेह संबंध, आत्मिक भाव व्यक्त हुआ है। इसके अलावा प्रकृति का विराट परिवेश—चांद, सूरज, धरती, बादल, आकाश, हवा, पानी, ऋतुएं सब से घिर कर ही आदमी जीता आया है। आज भी जब हम प्रकृति से दूर होते जा रहे हैं तब भी घूम फिर कर किसी न किसी बहाने फिर प्रकृति की ओर लौटते हैं। इसलिए लोक-साहित्य में पशु पक्षी और प्रकृति यदि बहुत प्रमुख और बहुत जीवंत होकर ज्यादा स्थान घेरते हैं तो यह स्वाभाविक ही है।

लोक कथाओं के जो दो रूप माने गये हैं—एक वे कथाएं जो सहज स्वाभाविक और यथातथ्य घटनाओं का ज्यों का त्यों वर्णन करें अर्थात् कथा के पात्र, घटनाएं, चरित्र सभी कुछ जीवन के यथार्थ पर निर्भर करें और दूसरे वे कथाएं जो कल्पना के सानुपातिक उपयोग द्वारा अनुभूतियों एवं घटनाओं के यथार्थ को विरूप (डिफार्म) करके जीवन के सत्य को उद्घाटित करें। ये दो रूप कुछ झीने-झीने लोक-गीतों में भी देखे जा सकते हैं।

सच तो यह है कि लोकगीतों में भी एक कथा होती है। इसलिए लोककथा के बारे में कही गई उक्ति को हम लोक-गीतों पर भी आसानी से लागू कर सकते हैं। लोक कथाओं के इन दो मुख्य बीजों की खोज करते हुए कहा गया है—''आदिम जीवन की सभी कथा-कहानियां विरूपात्मक हैं और विरूप के माध्यम से वे सांकेतिक अर्थ प्रदान करती हैं।''

यहां इस बात को स्वीकारते हुए भी जोड़ा जा सकता है कि अभिव्यक्ति को अधिक सांकेतिक और कारगर बनाने की दृष्टि से लोककथाओं और लोकगीतों में न केवल विरूपीकरण पद्धति का, वरन रूपांतरण पद्धति का उपयोग भी यत्र-तत्र सर्वत्र देखा जा सकता है। आदिम-काव्य और कलारूपों में ये दोनों पद्धतियां बहुधा समानांतर चलती हैं।

विरूपीकरण में रूप तो किसी न किसी अंश, या रूप में, रहता है पर उसे कम या ज्यादा विरूपित किया जाता है, या तो घटाया जाता है या बढ़ाया जाता है जैसे शैल चित्रों और भित्ति चित्रों में चित्रकला के जो आदिम रूप प्राप्त होते हैं वे विरूपीकरण के स्पष्ट उदाहरण हैं।

लेकिन रूपांतरण पद्धति मे रूप बदल जाता है। जैसे मनुष्य को पशु पक्षी कर देना या पशु पक्षी को मनुष्य बना देना। यह रूपांतरण क्षणिक भी हो सकता है और दीर्घकालिक भी। लोक कथाकार या लोकगीतकार इन दोनों पद्धतियों का उपयोग कर अपनी बातें, अपना मंतव्य ज्यादा कलात्मक ढंग से, और ज्यादा सांकेतिक रीति से, व्यक्त करते हैं।

कोमल कोठारी ने ढोला मारू की कथा पर विचार करते हुए बताया कि उसमें ''दो प्रसंग ऐसे हैं जहां तथ्य को कथा-सौंदर्य के लिए विरूप किया गया है। यह प्रसंग है ऊंट से मालवणि एवं ढोला की बातचीत तथा इन्हीं दोनों पात्रों के बीच में तोते की बातचीत।'' यहां जिसे विरूपीकरण कहा गया है उमे यदि साभिप्राय रूपांतरण मान लें, तो यह ज्यादा ठीक हो। जब हम पशु या पक्षी को मनुष्य, और मनुष्य को पशु या पक्षी, बना देते, या उन पर एक दूसरे के आचार-व्यवहार आरोपित करते हैं, तो हमारा एक खास उद्देश्य होता है। विष्णु शर्मा ने 'पंचतंत्र' में राजकुमारों की जो कथा, पशु-पक्षियों के माध्यम से, सुनाई है यदि वे इसे मानवीय पात्रों का सहारा लेकर सुनाते तो वह न तो इतना रोचक होता और न प्रभावशाली। पशु मनुष्य से हीन समझा जाता है, उसमे सोच-समझ, सूझ और संवेदना का अभाव माना जाता है। लेकिन जब वही मानवीय व्यवहार करने लगे, सोच-समझ, सूझ और संवेदना का परिचय देने लगे, तो उसका अनुकूल प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। इसी प्रकार जब मनुष्य को पशु रूप में चित्रित किया जाता है तो उसका भी एक स्पष्ट उद्देश्य होता है।

लोकगीतों और लोककथाओं में इकतरफा रूपांतरण अधिक हुआ है। यानी पशु पक्षी मनुष्य अधिक हुए हैं, मनुष्य पशु-पक्षी कम हुए हैं। इसके भी कारण हैं। चाहे लोककथा हो, या लोकगीत, वे हैं तो मनुष्य की सृष्टि ही न? मनुष्य अपने को पशु रूप में क्यों चित्रित करेगा? इसलिए उसने अवसर पाकर पशुओं पक्षियों को मनुष्य रूप में चित्रित किया है। एक संताली लोकगीत में जो कहा गया है उसके भाव इस प्रकार हैं :

घर के अंदर भाभी थी
बाहर भाई थे
दोनों में से किसी ने नहीं कहा बहन बैठो
दरवाजे पर सुग्गा, पालतू सुग्गा था
सुग्गे ने कहा बैठो बहन

तो इसमें सुग्गे को मनुष्य का स्वभाव-स्वर देकर मनुष्य की तरह बोलते हुए क्यों दिखाया गया? इसलिए कि जहां मनुष्य मनुष्योचित व्यवहार करने में चूक रहा है वहां सुग्गा वैसा व्यवहार कर मनुष्य की कमी को पूरा भी कर रहा है और उसकी ओर मनुष्य का ध्यान भी आकृष्ट कर रहा है।

जैसे साहित्यिक कृतियों में श्लेष या द्वयार्थकता होती है वैसे ही कभी कभी मनुष्य को पशु पक्षी बनाने पर, या पशु पक्षी को मनुष्य बनाने पर, उसमें मूल जाति के गुण शेष रह जाते हैं, उनका पूरा विलोप नहीं होता। विजयदान देथा ने जो यह कहा है कि "आदिम मानव का यथार्थ-जगत उसकी कल्पना का पुट पाकर काल्पनिक रूप धारण कर लेता है और उसका काल्पनिक जगत उसके यथार्थ का पुट पाकर वास्तविक बन जाता है। इस कारण यह भेद करना मुश्किल हो जाता है कि उसके यथार्थ और काल्पनिक जगत में कहां भिन्नता है।" यह बात बहुत दूर तक सही है। हम एक मुंडा लोकगीत को लें—

सण्डी सिम गिपाल गोपोल/ओकोता जना
कलुटी सिम केरी केचो/चिमय ती जना
सण्डी सिम गिपाल गोपोल/चेड़े टोटे तिया
कलुटी सिम केरी केचो/ए-को हलङ तिया
उते तले बनोगा/चेड़े टोटे तीया
बुलुङ तले बनोगा/ए-को हलङ तीया
(वह मनचला मुर्गा कहां चला गया/वह कुड़कुड़ाती हुई मुर्गी कहां गई?
वह मनचला मुर्गा चुपके से चिड़िया मारने गया/वह मनचली मुर्गी लाइ बटोरने गई।
सालन नहीं है इसलिए चिड़िया मारने गया/नमक नहीं है इसलिए लाइ बटोरने गई)

यहां मुर्गा मुर्गी पूरमपूर मुर्गा मुर्गी नहीं हैं, उनका प्रतीकीकरण हो गया है। ये मुर्गा मुर्गी भी हैं और मानव मानवी भी। यह रूपांतरण है भी और नहीं भी। यहां अर्थ श्लेष गीत को कलात्मक और चमत्कारिक बनाता है। एक संताली लोकगीत का भावार्थ लें:

सुग्गे, प्रिय सुग्गे, बाहर निकलो/दरवाजे में खड़े हो जाओ
आज मैं तुम्हें विदा करूंगी/सुग्गे मैं तुमको विदा करुंगी
मैं दूसरा सुग्गा लाऊंगी/सुग्गा तभी घर सुशोभित होगा

लोकगीतों और लोककथाओं में जहां पशु पक्षियों को मनुष्य बनाया गया है वहां लोकगीतकारों और लोककथाकारों ने किश्तवार काम भी किया है। कहीं तो उसे मनुष्य की बोली बोलते दिखाया गया है पर मनुष्योचित आचरण करते नहीं। कहीं मनुष्योचित आचरण करते दिखाया गया है तो मनुष्य की बोली बोलते नहीं। कहीं यदि वह ये दोनों काम करता भी है, तो भी पूर्णतः मानव समुदाय में नहीं खपता। लगता है कहीं कहीं वह अधूरा है और कहीं कहीं पूरा—पर इतना पूरा भी नहीं कि अब उसे केवल मनुष्य ही कहा जाय। यह स्प - बोध होता है कि वह बनाया हुआ मनुष्य है—मनुष्य द्वारा बनाया हुआ मनुष्य। यही उसकी विशेषता भी है। यदि वह पूरा का पूरा मनुष्य ही लगने लगेगा तो कला के बारे में क्या यह विचार कि वह अनुकृति है, मूल नहीं, भ्रम है, वस्तु नहीं—खंडित नहीं हो जायेगा?

लोकगीतों और लोककथाओं में कहीं कहीं पशु पक्षियों को मनुष्य तो बनाया गया है पर उसे उसके मूल चरित्र या गुण से इतना अलग कर दिया गया कि उसका अन्यथाकरण हो गया है। जैसे साहित्य या कला में अन्यथाकरण का प्रयोग कर कलाकार अपना विशेष मंतव्य प्रकट करना चाहते हैं शायद लोक-कथाकार और लोकगीतकार भी वैसा ही करना चाहते हैं। एक मुंडा लोकगीत का भाव है—

हे कोयल, तुम साखू के फूलों में उतरी थी/हे कोयल, तुम नई कोपलों में आई थी
हे कोयल, तुम भात और हंडिया के लिये उतरी थी
हे कोयल, तुम मुर्गी की टांग के लिये आई थी
हंडिया और भात खत्म हो गया/इसीलिये तुम चली गई
मुर्गी की टांग समाप्त हो गई/इसीलिए तुम लौट गई

यहां जिसे कोयल बताया गया है उसमें कोयल के एक भी तो गुण नहीं हैं। कोयल को भात और हंडिया से क्या मतलब? मुर्गी की टांग से क्या मतलब? उसे तो आम्र-वृक्ष, पल्लव-दल और मंजरियों की खोज और चाह रहती है। यहां इन सब का साभिप्राय निषेध है। इससे स्पष्ट है कि कोयल, कोयल नहीं, कोई श्यामा है जिसका कोयल से केवल वर्ण साम्य है। यहां कोयल के स्वभाव का अन्यथाकरण कर एक व्यंग्य उभारा गया है। लोकगीतों में नायिकाओं को 'हरे वन की कोयल' या 'हरे भरे बाग की कोइलिया' अक्सर कहा गया है। लेकिन ऐसा कह कर जहां उसे मिठबोली या परिवार की शोभा, सुभाषिनी प्रमाणित किया गया है वहां ऊपर के लोकगीत में उसका अन्यथाकरण करके उससे एक अलग उद्देश्य की पूर्ति की गई है।

जैसे पशुओं से आदमी को बहुत काम पड़ता है, उसके बिना उसका काम हो ही नहीं सकता, वैसे ही लोक-कथाकारों और लोकगीतकारों को भी जब तब पशुओं से बहुत काम पड़ा है। उसने उनसे यह काम लिया है—कहीं तो उसे पशु रूप में ही कायम रखकर

और कहीं उसे आदमी का रूप देकर। लेकिन इस संबंध में जो एक बात ध्यान देने की है उस पर लेखकों का ध्यान पहले भी गया है। लोक जीवन सदियों से बेगार करता आ रहा है। ठाकुर महाजन का काम मुफ्त करता आ रहा है। बेगार की प्रथा का दुखदाई अनुभव उसे है। इसलिए वह स्वयं किसी से भी बेगार नहीं लेना चाहता। संदेशवाहक पक्षियों से भी उसने मुफ्त सेवाएं नहीं ली। बदले में अपने सामर्थ्य अनुसार सब कुछ देने की चेष्टा की है। कहीं कंजूसी नहीं बरती। कहीं संकीर्ण हिचकिचाहट को उभरने नहीं दिया। उसके काम करवाने के तरीके में भी हुक्म और आदेश का स्वर नहीं—प्रार्थना, प्यार और भाईचारे का स्नेह भरा विनय है। आपसी समता है, मानवीय संवेदना है।

पशु पक्षी और प्रकृति को मानव रूप देना ही पर्याप्त नहीं। उसके प्रति किए गए व्यवहार से भी यह बात प्रमाणित होनी चाहिए कि हम उन्हें मनुष्य ही मानते हैं, छद्म मनुष्य नहीं। लोककथाओं और लोकगीतों के संदर्भों से यह बात प्रमाणित होती है कि उन्हें मनुष्य मानकर, या बनाकर उनके साथ सदा मानवीय व्यवहार ही किया गया है। कुर्जा हो या काग, कोयल हो या सुग्गा, पपीहा हो या सारस, मोर हो या मैना जिसको भी लोक साहित्यकार जो काम देता है उसका पूरा ब्यौरा समझाता है। विजयदान देथा के शब्दों में ''नाम धाम, पूरा पता ठिकाना सब बताया जायेगा। सूरत-शक्ल का सही-सही हुलिया बताया जायेगा। ओहदा बताया जायेगा। चाल की गति बतलाई जायेगी। पति को संदेश भिजवाना है—वह कौए को छोटी से छोटी बात तक बतलाना न भूलेगी। आदिम वृत्ति प्रकृति के बीच किसी भी तरह का व्यवधान मंजूर नहीं करती। वह प्रकृति में अपने ही समान चेतना अनुभव करती है। चेतन और अचेतन का अंतर उसकी दृष्टि में सर्वथा नगण्य है।'' लोक साहित्यकारों ने पशुओं और पक्षियों से हर जगह, हर प्रसंग में इस तरह का व्यवहार किया है जैसा जीते जागते मनुष्य के साथ किया जाता है। बदले में पशु पक्षी और प्रकृति ने भी ऐसा ही स्नेहिल और अकृत्रिम व्यवहार किया है।

पिता ने एक विशाल पोखरा खोदा था
उसमें एक लाल कमल खिला
नई साड़ी पहन कर
पीतल का घड़ा लेकर
मैं पानी भरने गई थी
हाय रे ! कमल फूल ने मुझे देखकर हंस दिया

यहां किशोरी के प्रति कमल फूल का व्यवहार कितना मानवोचित और स्वाभाविक है। सौंदर्य को सराहने का भाव इस कमल फूल में जैसा है वैसा कभी-कभी मनुष्य में भी कम देखा जाता है। ऐसे भावों के कारण ही आत्मीय संबंध बनते हैं। जब किशोरी विवाह कर पति-गृह जाने लगती है तो कहती है—

हाय ! मैं अपनी निशानी छोड़े जा रही हूं
मां जब मैं नहीं रहूं तो फूल की देखभाल करना
हाय रे फूल, मेरी आंखों से आंसू बह रहे हैं

आदिवासी लोकगीतों में फूलों के प्रति स्नेह, ममत्व, लगाव ललक आदि अद्भुत हैं। कितने-कितने प्रकार के फूल यहां मिलते हैं—कहीं हुंदी फूल है, तो कहीं साखू फूल, कहीं लूदम फूल है, तो कहीं अटल फूल, कहीं अलाटी के फूल हैं, तो कहीं पलाटी के फूल, कहीं कटोरा के समान दूधी फूल हैं, तो कहीं थाली के समान अटल फूल हैं, कहीं डवल फूल है, तो कहीं ईचा फूल, कहीं काला हुंदी फूल है, तो कहीं काला बंगुर फूल, कहीं उपल फूल है, तो कहीं तड़ाय फूल, कहीं कुटी फूल है, तो कहीं नारी फूल, कहीं नारायण फूल है, तो कहीं तराय फूल, कहीं धान के फूल हैं, तो कहीं कपास के फूल, कहीं पूजा फूल हैं. तो कहीं राजा फूल ... न जाने कितने कितने फूल हैं। फूलों की पूरी लहलहाती हुई रंग-बिरंगी दुनिया है आदिवासी लोकगीतों में। इन कुछ फूलों का उल्लेख मैंने मुंडा लोकगीतों को ध्यान में रखकर किया है।

अब थोड़े में इनकी सिफत भी जान लीजिए। हुंदी फूल सोने के समान है और जंबिरा फूल रूपा के समान। डुंफूल नाचता है और तराय फूल करम खेलता है। डुंफूल रसिक है और तड़ाय फूल रंगीला है। जब शादी होती है तो ईचा फूल की भेरी बजती है और धतूरा फूल का सिंगा बजता है। पहाड़ पर लूदम फूल सिसकारी मारता और गाता है और गांव के बीच केवड़ा फूल हंसता और बोलता है। ये फूल जब जंगल में खिलते हैं तो उगते हुए सूरज के समान प्रकाशित हो जाते हैं और जब फूल धूल या पत्थर पर झरते हैं तो—

गितिल रेगे उयु उयु गोवा हो
गितिल गितिल सोवाना
सेरेङ रेगे नोसो टोवा हो
सेरेङ सेरेङ सिड़ीया
अर्थात्
धूल में गिरेगा तो
धूल धूल महकेगा
पत्थर पर गिरेगा तो
पत्थर पत्थर गमकेगा

फूलों के अलावा महुआ, साखू, सरसों, राई, शकरकंद, सारू, मसूर, कलाई, आंवला, जामुन, लकड़ी, पत्री, कांटा, लता, सूरज, चांद, जुगनू, बादल, आकाश, आग, पानी, पोखर, बांध, कुत्ता, बैल, बकरी, सूअर, बाघ, भालू, सांप, पेड़, पक्षी आदि प्रकृति के न जाने कितने कितने अंग और अवयव आदिवासी लोकगीतों में इतने सजीव होकर उभरते हैं कि

उनका मानवीकरण होता चलता है। *पहाड़ी महुआ टपाटप गिरता है तो तराई का साखू फूल झरझरा कर झरता है, सरसों गहगहाई हुई है तो राई गनगना रही है, सरसों का दाम हाथ की अंगूठी के बराबर है तो राई का मोल पैर की अंगूठी के समान है, सुकन पहाड़ के रास्ते पर शकरकंद की लंबी लंबी लताएं लहरा रही हैं तो बड़े पहाड़ के रास्ते पर सारू की छितराई पत्तियां गनगना रही हैं, मसूर अंकुर दे रहा है तो कलाई जम रही है, टांड़ का आंवला हरा-भरा है तो नदी का जामुन खूब गहगहाया हुआ है, खोह कंदरा की लकड़ी बाघ बन जाती है तो सिकुड़ी हुई पत्ती सांप बन जाती है, जलावन की सीधी सीधी लकड़ी दिया के समान जलती है तो चिकनी चिकनी पत्ती से कटोरा के समान दोना बनता है, सिसिगोर कांटा बड़ा कंटीला है तो सेपाड़ी लता बहुत छितराई हुई है, सूरज देवता हल जोत रहे हैं तो चांद देवता खेत बना रहे हैं, सोना के समान सरहुल का चांद है तो रूपा के समान चैत का चांद है, झमरा के नीचे जुगनू चमक रहा है—झिलमिल झिलमिल, जगमग जगमग तो बादल गुड़ गुड़ की आवाज में गरज रहा है, आकाश कहीं दग दग जल रहा है तो कहीं धांय धांय तप रहा है, कांसी का खेत रट पट की आवाज में धुंआधार जल रहा है तो लुपुतियम (एक घास) चरपट की आवाज में धधक रहा है, पानी कहीं पहाड़ से टलमल टलमल बहता है तो कहीं ढाल से रिलमिल झरता है, पानी कहीं फिसफिसा रहा है तो कहीं झमझमा रहा है, कहीं पोखरी लबालब भरी है तो कहीं बांध झलमल कर रहा है, कहीं वंडा कुत्ता है तो कहीं बड़े सिर वाला सूअर है, कहीं बकरियां महुए की टोह में दौड़ रही हैं तो कहीं बैल तराई के साखू की ओर भाग रहे हैं, आधी रात तक, मध्य रात तक बाघ और भालू लड़ रहे हैं तो कहीं पहाड़ी सांप ने दिया जलाया है जिसकी रोशनी झिलमिल कर रही है। कहीं समसुड़ी सांप ने रोशनी की है जो टिमटिमा रही है। कहीं भरमर करता खजूर का पेड़ है तो कहीं सिंदूर का वृक्ष है और काजल की लता है, पीपल पक रहा है और बड़ गदरा रहा है और उस पर पंछी पर पंछी उतर रहे हैं। कहीं उड़ता हुआ हेड़े पक्षी है तो कहीं चक्कर काटता हुआ डुलु पक्षी। गोरैया पक्षी पलास के फूल में रहता है तो सुड़ियाम पक्षी पलास फूल का रस चूसता है। कहीं जोगी पक्षी है तो कहीं लालू और भीरु पक्षी। सालू पीसने जैसी आवाज बजाता है तो भीरू तकुआ के समान भनभनाता है, दोवा पक्षी नदी नदी थपक थुपुक चलता है, तो पंडुका चट्टान के ऊपर और नीचे गुगुचु गुगुचु बोलता है, कहीं फुर फुर करता हुआ लिटिया पक्षी है तो कहीं दिन में सोनेवाला हापू और रात में जागने वाला उल्लू है।*

ये सभी मिलकर आदिवासी लोकगीतों को पूर्णता और विविधता देते हैं। प्रकृति यहां इतनी प्रमुख है कि मानवीय स्थितियों के वर्णन में भी प्रायः उसी का प्रयोग हुआ है। प्रेमी कहीं कद्दू के फूल के समान सुंदर और जवान है तो कहीं खीरे की लता के समान सुंदर और जवान। हे बेटी तुम बड़ी नदी की चिरपी मछली के समान चमकती फिरती हो। हे बेटी तुम छोटी नदी की ऊपरा मछली के समान फुदकती फिरती हो। आदिवासी लोकगीतों की दुनिया की इस संक्षिप्त झांकी से बोध होता है कि यह दुनिया कितनी जीवंत और

रंग-बिरंगी है। लेकिन यह दुनिया धीरे धीरे लुप्त भी होती जा रही है। एक लुप्त होती दुनिया के ब्यौरे हमारे मन में प्रकृति के प्रति एक ललक और लालसा जगाते हैं। इनकी परिक्रमा कर हम जान पाते हैं कि हम कितने कुछ से अपरिचित रहे हैं, या कितना कुछ खो चुके हैं। इससे न केवल जीवन को एक अभिनव रूप रंग देने की प्रेरणा मिलती है वरन् पशु-पक्षी जीवजगत के प्रति भी हमारा एक मानवीय नजरिया बनता और उद्दीप्त होता है। इन रंगारंग वीथियों में घूम कर भटककर हमें सचमुच लगता है कि "प्रकृति ही सबसे बड़ी यूनिवर्सिटी है। इस यूनिवर्सिटी से मनुष्य ने कितना सीखा है, कितना सीखता चला जा रहा है और कितना सीखेगा—इसका न तो कोई पार है और न इसकी कोई सीमांत रेखा ही।" प्रकृति हमारे लिए केवल यूनिवर्सिटी ही नहीं, आर्ट गैलरी, म्युजियम, लेबोरेट्री, जू और नेशनल आर्काइव्ज भी है। जिस दिन प्रकृति के प्रति अधिसंख्य लोगों का नजरिया ऐसा हो जायेगा, वह मानवता के कल्याण के लिये मंगल दिन होगा। □
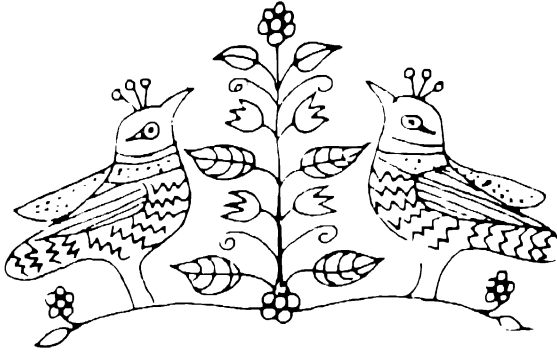
डॉ. श्यामसुंदर घोष : भागलपुर विश्वविद्यालय सेवांतर्गत यूनिवर्सिटी प्रोफेसर। प्रेमचंद, नयी कविता, बच्चन, निराला, नवलेखन, साहित्य के नए रूप लेखन के विषय। कुछ पुस्तकों का संपादन।

संपर्क : ऋतंबरा, गोड्डा, बिहार।

लोक साहित्य और लोकगीतों की सामाजिक चेतना

डॉ. विश्वमित्र उपाध्याय

भारत का लोक साहित्य समृद्ध और प्राचीन है। इसमें जनसाधारण की रागात्मक भावनाओं, ग्रामीण एवं शोषित जनता के सुख-दुःख उसके उद्दात्त विचारों और कोमल कल्पनाओं, अदम्य साहस तथा उसकी सर्जनात्मक प्रवृत्तियों की सहज एवं प्रभावी अभिव्यक्ति हुई है। भारत के लोक साहित्य में वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक जनसाधारण के उत्सर्गों, अवदानों एवं संघर्षों का इतिहास सुरक्षित है। शिष्ट साहित्य अनेक रूढ़ियों, वादों और शिल्प-विधानों से ग्रस्त होता है। परंतु अशिक्षित आम जनता के साहित्य का मुख्य गुण स्वाभाविकता, स्वच्छंदता तथा सरलता है। इस लोक साहित्य का स्वरूप उतना ही स्वाभाविक है जितना जंगल का फूल, उतना ही स्वच्छंद है जितना आकाश में उड़ने वाला पक्षी और उतना ही सरल है जितना गंगा की धारा।

लोक साहित्य का हर समाज व देश के जीवन में बहुत महत्व होता है। लोक की वास्तविक संस्कृति उसके मौखिक साहित्य में ही अभिव्यक्त हुई है। लोक साहित्य का ऐतिहासिक, भौगोलिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक तथा भाषाशास्त्रीय महत्व होता है। भारतीय लोक साहित्य में जनसाधारण के पारिवारिक जीवन की अभिव्यंजना बहुत सुंदर ढंग से हुई है। इसमें सदियों से शोषण, उत्पीड़न तथा सामाजिक कुरीतियों की शिकार जनता के जीवन की आर्थिक-सामाजिक विषमता तथा उसकी विद्रोही चेतना का सजीव चित्रण हुआ है। भारतीय लोक गीतों में हमारे राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन की विभिन्न प्रवृत्तियों की भी व्यापक एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है। लोक गीतों ने स्वाधीनता सेनानियों को प्रेरित और प्रोत्साहित किया है और जनता के हृदय में राष्ट्रीय भावनाओं एवं क्रांतिकारी विचारों का संचार किया है। यह क्षेत्रीय देशप्रेमियों तथा वीरों के संघर्षों और शहादतों के उस इतिहास को अक्षुण्ण बनाए हुए है जिसकी इतिहासकारों ने उपेक्षा कर दी है। स्वाधीनता संग्राम ने भी लोकगीतों को संवर्द्धित किया है। वास्तव में राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष और लोक गीतों ने एक दूसरे के लिए पूरक और प्रेरक की भूमिका निभाई है।

लोक साहित्य की उर्वरा भूमि पर ही शिष्ट साहित्य का विकास हुआ है। सुप्रसिद्ध कवयित्री सुभद्रा कुमारी चौहान ने झांसी की रानी वीरांगना लक्ष्मीबाई की कहानी हरबोले गायकों के मुख से सुन कर ही अपनी कविता *झांसी की रानी* लिखी थी। साहित्य, इतिहास और समाजशास्त्र के इतिहास का पुनर्लेखन करते समय हमें अपने लोक साहित्य की विभिन्न विधाओं—लोकगीत, लोकगाथा, लोककथा आदि का भी अध्ययन करना होगा।

जनसाधारण के घरों व पास-पड़ोस की महिलाएं शिशु के जन्म, यज्ञोपवीत, विवाह आदि संस्कारों के अवसरों पर सोहर, विवाह गीत, गारी आदि लोकगीत गाती हैं। खेतों में सोहनी, निरवाही तथा कटाई करते समय स्त्री-पुरूष श्रम गीत गाकर थकान मिटाते हैं।

युवक विभिन्न ऋतुओं में कजरी, फाग, लावनी, सावन, बिरहा आदि गाकर रागात्मक भावनाओं को जागृत करते हैं और आम लोगों का मनोरंजन करते हैं। वृद्ध जन निर्गुन गाकर आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को अभिव्यंजित करते हैं। निःसंदेह ये लोकगीत आम जनता के जीवन में व्याप्त आशाओं-निराशाओं, लोक-विश्वासों, उसके रहन-सहन तथा समस्याओं के अध्ययन में बहुत सहायक हैं।

इन लोकगीतों में समाज के प्रचलित लोकविश्वास सुरक्षित हैं। समय-समय पर जो परिवर्तन हुए हैं वेभी रेखांकित हैं। लोकगीतों की दृष्टि किसी क्षेत्र-विशेष या भाषा विशेष से बंधी हुई नहीं है, वह विश्व दृष्टि है, समग्र जीवन की दृष्टि है। इसकी परिधि में संपूर्ण चर-अचर, जीव जंतु और मानव परस्पर साझेदारी करते हुए दिखाई देते हैं। इनका साहचर्य जीने की प्रेरणा देता है और हर विषम परिस्थिति में साहस बनाए रखने का संबल देता है। इनमें धर्म और दर्शन की भी अमिट छाप है। लोकगीतों में बिंबों और प्रतीकों का प्रयोग भी बड़े सटीक ढंग से हुआ है। इनमें भावों की अभिव्यंजना, आत्माभिव्यक्ति, कल्पना, संगीतात्मकता, प्रकृति से तादात्म्य आदि सहज भाव से व्यक्त हुए हैं। इनमें गीत तत्त्व की प्रधानता है। ये काव्य शास्त्र के बंधनों से मुक्त हैं। परंतु रस की धारा इनमें सहज प्रवाहित है।

प्राचीन काल से पुत्र का जन्म पुण्य का फल माना जाता रहा है। गढ़वाली गीतों में पुत्र को देवताओं का जाया कहा गया है। एक गढ़वाली गीत में यही भाव व्यक्त हुआ है:—

तू होलो मेरा तपस्या का जायो/तेरी जिया ब्वैन कटु कैन कर्म।
तेरी जिया ब्वैन नीम लैन धर्म/तेरी जिया ब्वैन तीर्थ का ना छुब्बडुल्यो नहेंणे।
देवतौ का नौ वीन धारू ढुंगी पूजीन/तू होलो बाला डांडो कू उद्यौऊं।
तू बण्लो बाला कुल की जोत।

हे बेटा! तू मेरी तपस्या का फल (जाया) है, तुझे पाने के लिए तेरी मां ने कितने ही कठोर कर्म किए हैं। कितने यम-नियम और धर्म निभाए हैं। तेरी मां तीर्थों के नाम पर कई पोखरों तक नहाई है और देवताओं के नाम पर हर पत्थर को पूजती रही है। अरे! बालक तुम उदय शिखरों पर सूर्य की जोत के समान संसार में उदीयमान प्रकाश पुंज की तरह चमकना। आखिर तुम अपने कुल के नाम को सूर्य के समान प्रकाशित करोगे। कुल की जगमगाती जोत हो न!

एक अवधी सोहर में पुत्र के जन्म पर उत्सव मनाने, नौबत बजने, परिजनों व पुरजनों को उपहार देने अर्थात् सर्वत्र आनंद छा जाने का भाव इस प्रकार व्यक्त हुआ है:

चैतहिं के तिथि नवमी त नौबति बाजे/हो मोरि सखिया! बाजै राजा दशरथ दुअरवा
कौसिल्या रानी के मंदिर/मिलहू न सखिया सलेहरि
आवा चलि मिलि जुलि/हो मोरि सखिया! राजा के जन्मे है राम;
करिय न्यौछावर/केहू नावे बाजू के बंदा, केहू कजरावट;
हो मोरि सखिया। केहू नावे देखिनवा के चीर/करै न्यौछावर।

मां का हृदय अत्यधिक वात्सल्यपूर्ण होता है। कौसल्या घर से निकलतीं और बालक राम को हृदय से लगा लेती हैं:

भितरां से निकसी कौसल्या/अंगवा में ठाढ़ भई।
हो अरे रानी, धै धै करेजवा लगावे/करै न्यौछावर।

कुछ सोहर गीत बहुत करूण होते हैं। लोकगीतों के प्रसिद्ध अनुसंधानकर्ता व संग्रहकर्ता पं. रामनरेश त्रिपाठी द्वारा प्राप्त किए गए एक अवधी सोहर में कोई हिरनी राजा दशरथ से प्रार्थना कर रही है कि हे राजा! मेरे हिरन के मांस को भले खा लेना परंतु उसकी खाल मुझे दे देना। मैं उसे लेकर सती हो जाऊंगी। इस हृदयविदारक गीत में हिरनी अपने पति के चाम को भी नहीं पाती। वह उस चाम से बनी हुई खजड़ी की ध्वनियों को सुनकर दुःखी हो जाती है:

छापक पेड़ छिड़लिया त पतवन गहवर हो/
रामा, तेहि तर ठाढ़ि हरिनिया मन अति अन मनि।।
चरइत चरत हरिनवा त, हरिनी से पूछइ हो।
हरिनी! कि मोर चरहा झुरान, त पानी बिन मुरझिउं हो।।
नाहीं मोर चरहा झुरान, न पानी बिन मुरिझिउ हो।
हरिना, आजु राजा जी के छट्ठी त तोहई मारि डरिहई।।
मचिया बैठी कौसिल्या रानी; हरिनी अरज करि हो।
रानी मंसुआ त सीझंहि करिहिया, खलरिया हम्मै देतिउ।।
पेड़वा से टंगवेउ खलरिया, त हेरि फेरि देखतेउं हो।
रानी, देखि देखि मन समझउतिउं, जनुक हरिना जियतइ।।
जाहु हरिन घर अपने, खलरिया नाहीं देवइ हो।

इस लोकगीत मे राजा दशरथ, कौसल्या और राम का सामान्यीकरण हुआ है। स्थायी वियोग मे पीड़ित हृदय की ऐसी सशक्त व अद्‌भुत कल्पना शिष्ट साहित्य में भी विरल है।

कन्या के लिए सुयोग्य घर-वर ढूंढ़ना कठिन कार्य है। एक अंगिका लोक गीत मे कोई कन्या अपने पिता से योग्य वर खोजने का अनुरोध करती है, परंतु पिता को योग्य वर नहीं मिलता। उसे तपस्वी भिखारी ही मिलता है। जो हो, कन्या उस वर को अपने लिए शंकर भगवान ही मानती है:

बाबा जे चललन घर वर खोजे/आगु मै रूकुमिनी ठाढ़ हे।
अपना जुगुति हो बाबा समधी जे खोजिह/परिजन लोग बरियात हे।।
सिया जुगुति हो बाबा घर वर खोजिह/जैसन सीरी बैजनाथ हे।
उत्तर खोज ले गे बेटी दखिन खोज लें/खोज लें मगहा, मुंगेर हे।।
अपना जुगुति गे बेटी घर वर न भेंटल;/परिजन जोग न बरिआत हे।

सिया जुगुति जे बेटी घर वर न भेंटल/भेंटल तपसी भिखारि हे।।
तोरा लेखे बाबा, तपसी भिखारी/मोरो लेखे सीरी बैजनाथ हे।

दहेज प्रथा हमारे समाज के लिए अभिशाप बनी हुई है। तथाकथित सुशिक्षित लोग भी दहेज मांगते हैं। और इसके लिए नाचते हैं। डूम (डोम) जाति के लोग कांगड़ी बोली में 'ढोलरू' लोकगीत गाते हैं। इसमें रानी छरमरी को मायके से दहेज न लाने पर दी गयी यातनाओं का वर्णन है। इस लोकगीत का तात्पर्य यह है कि रानी छरमरी को कपड़ा धोना पड़ता है। जब वह कपड़ा धोने बाहर गई तब उसका पुत्र अपनी दादी के पास गया और रोते हुए उससे दूध-भात मांगा। दादी ने कहा कि तुम्हें दूध-भात नहीं मिल सकता क्योंकि तुम्हारी मां अपने मायके से गाय-भैंस नहीं लाई है। रानी छरमरी अपने बालक को लेकर जंगल में चली जाती है। वहां स्वप्न में वह अपने माता-पिता से अपनी व्यथा कहती है। माता-पिता कहते हैं कि हे बेटी तुम मेरे महल के किनारे गड़ा धन निकाल लो और गाय-भैंस खरीद कर अपने घर जाओ। रानी छरमरी ऐसा ही करती है। उसकी सास, बहू को गाय-भैंस और दहेज के साथ पालकी में बैठी आती देखकर आश्चर्यचकित हो जाती है:-

धोबण चल्ली वो राणी छरमरी न/धोबण चल्ली वो राणी छरमरी न
रोंदा कलांदा बालक दादीया बला चली जांदा न/
देयां वो देयां दादिए दुधु-भत्तु आ जी आं
मैं कुथू से दियां दुधु भत्तु बालका आं जी आं/
तेरीयां मामेयां नी दित्ते यां ओ गाइ भैंसा आं जी आं।

दहेज की कुप्रथा के कारण कन्या का पिता निश्चित होकर सो नहीं सकता। एक मैथिली लोकगीत का तात्पर्य यह है कि पीपल के पेड़ के पत्ते झिलमिल कर रहे हैं और शीतल हवा चल रही है। उस पेड़ के नीचे कुंआरी कन्या के पिता ने पलंग बिछाया और उन्हें सुख की नींद आ गई। उनकी कुंआरी बेटी आई और पलंग का पाया पकड़ कर खड़ी हो गई। इससे पिता की नींद टूट गई। जिसके घर मे कुंआरी कन्या हो वह व्यक्ति निश्चित होकर कैसे सो सकता है?

कन्या कहती है:

पिपरक पात झलामलि हे/बहि गेल तितल बतास।
ताहि तर कोन बाबा पलंग ओछावल/बाबा के आइल सुख की नींद हे।।
चलइत चलइत अइलि बेटी को न बेटी/खटिया के पउआ धयले ठाढ़ि हे।
जाहि घर आहे बाबा धिआ हे कुमारी/सो केना सुतथि निचिंत हे।।

एक भोजपुरी विवाह गीत में पुत्री कहती है—हे पिता! मैंने आप को बारंबार रोका कि झांझर माड़ो मत छवाना। झांझर माड़ो में धूप लगेगी और मेरा गोरा शरीर कुम्हला जाएगा। पिता कहता है—हे बेटी! कहो तो छत्र तनवा दूं। कहो तो अंचल ओढ़वा दूं,

कहो तो छत बनवा दूं, धूप क्यों लगे? पुत्री कहती है—पिताजी छत्र क्यों तनाओगे? क्यों अंचल ओढ़ाओगे? और क्यों छत बनवाओगे? आज की रात तो मेरा इस घर में बसेरा है। कल पौ फटते ही मैं परदेसी के साथ चली जाऊंगी। पिता कहता है—हे बेटी! मैंने तुम्हें ताजा मक्खन खिलाया, साढ़ी वाला दूध पिलवाया। तुमने एक भी एहसान न माना और तुम परदसी के साथ चली जा रही हो। इस लोकगीत में कन्या की सुंदरता व कोमलता, पराये घर के वातावरण की अनिश्चितता और पिता के हृदय में पुत्री के विछोह का भाव सहज ढंग से व्यक्त हुआ है:-

बेरिया क बेर बरजेउं बाबा/झंझरा मड़उना जिन छाये।
झंझरे मड़उना सूरज दह लगिहै/गोरा बदन कुम्हिलाय।।
कहहु त मोरी बेटी छत्र तनाऊं/कहहु त अंचल ओढ़ाय।
कहहु त मोरी बेटी मंडिल छवाऊं/काहे के लागै घाम।।
काहे के मोरे बाबा छत्र तनउबे/काहे के अंचल ओढ़ाय।
काहे के बाबा मंडिल छवौबे/आजे के रतिया बसेर।।
होत बिहान पह फाटत बाबा/जाबै परदेसिया के साथ।
काहे के मोरे बाबा छत्र तनौबा/काहे के मंडिल छवाव।।
टाटक नयनूं खवायउं रे बेटी/दुधवा पियायउं सढ़ियार।
एकहू न गुन मानेउ मोरी बेटी/चलिउ परदेसिया के साथ।।

एक अन्य भोजपुरी विवाह गीत में मधुर पारिवारिक संबंधों तथा विवाहिता कन्या की मनःस्थिति का हृदयस्पर्शी चित्रण हुआ है। इसमें कन्या कहती है—हे बाबा बाजार में सिंदूर महंगा हो गया है। इसी सिंदूर के कारण मैंने तुम्हारा देश छोड़ दिया। बाबा ने कहा—बेटी! तुझे दस कोस की दूरी पर ब्याहूंगा। भाई ने कहा—पांच कोस पर। मां ने कहा—बेटी! अयोध्या में तेरा ब्याह करूंगी, जहां रोज प्रातःकाल उठकर स्नान करने जाऊंगी। बेटी कहती है—बाबा ने अन्न, धन्न और सोना दिया। मां ने लहरदार रेशमी साड़ी दी। भाई ने चढ़ने के लिए घोड़ा दिया। भाभी ने सुहाग दिया अर्थात् सिंदूर दिया। बाबा का सोना तो नौ ही दिन खाऊंगी। रेशमी साड़ी फट जाएगी। भैया के घोड़े को नगर में दौड़ाऊंगी और भौजी का सुहाग बढ़ता रहेगा। सुहाग बढ़ना मंगल कामना ही है:-

हटिये सेंनुरा महंग भये बाबा/चुनरी भये अनमोल।
यहि सेनुरा के कारन रे बाबा/छोड़ेउं मैं देस तुम्हार।।
बाबा कहैं बेटी दस कोस बियेहों/भैया कहैं कोस पांच।
माया कहैं बेटी नगर अजोधिया/नित उठि प्रात नहांउं।।
बाबा दिहिनि अन धन सोनवां/माया दिहिनि लहर पटोर।
भैया दिहिनि चढ़न कै हां दौड़इबों/भौजी ने अपना सोहाग।।
बाबा कै सोनवां नवै दिन खाबै/फटि जैहै लहर पटोर।

हमारा समाज दहेज प्रथा, अनमेल विवाह, अंधविश्वास आदि अनेक सामाजिक कुरीतियों से आज भी ग्रस्त है। साथ-साथ जनता बड़े जमींदारों, पुलिस, पटवारी, सूदखोर महाजन आदि के शोषण व जुल्मों का सदियों से शिकार हो रही है। भारत की विभिन्न बोलियों व भाषाओं में रचित अनेक लोकगीतों में इन शोषणों और जुल्मों के विरूद्ध आदिवासियों, खेत मजदूरों, किसानों तथा श्रमजीवी जनता का आक्रोश और विद्रोही तेवर दिखायी देता है। लोकगीतों में जनसाधारण की शोषण रहित सुखी व संपन्न जीवन की कामन।ओं को भी स्वर मिला है।

लोकप्रिय लोक नाट्यकार *भिखारी ठाकुर* के एक नाटक के एक लोकगीत में एक युवती अपने पिता से शिकायत करती है कि उसके वृद्ध पति को दिखाई नहीं देता, उसके मुंह में दांत नहीं हैं, हर दम लार टपकता रहता है। ऐसे पति की दशा देखकर वह पागल हो गई है और आंसू बहाते हुए अपने दिन काट रही है:-

आंखि से सूझत कम, हर दम खींचत दम/मथवा के बरवा चंवरवा हटे बाबू जी।
मुंहवा में दांत नहीं भर मुंह लार चुए/बोलले आवेला सड़ल बदबू बाबूजी।
पति कर देखि गति पागल भइल मति/रोई रोई करीला बिहान मोर बाबूजी।

एक हरियाणवी लोकगीत में छोटे बालक से ब्याही युवती अपने मां-बाप को इस प्रकार कोसती है:-

बिन मिलती जोड़ मिलाई/मरियो मात-पिता अन्यायी।
देख बिराणा बालम यापा/जाने न सार हमार।

एक अन्य लोकगीत में एक महिला अपनी सखी से कहती है कि सखी मैं क्या करूं? मेरा पति अभी छोटा बालक है। वह न केवल मेरे पांव के पास सो जाता है बल्कि कभी-कभी तो बिस्तर में खो जाता है: *सइयां हेराय गये बिछौनन में।*

महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने भोजपुरी में छह लोकनाट्यों की रचना की थी। इनमें उन्होंने अच्छे लोकगीत भी दिए हैं। उनके नाटक 'मेहरारून के दुरदसा' के एक लोकगीत में महिलाओं के साथ किये जाने वाले भेदभाव और उनकी दुर्दशा का सजीव चित्रण हुआ है :-

एकै माई बपवा के एकही उदरवा में,
दूनो के जनमवां भइल रे पुरूखवा।
पूत के जनमवा में नाच आ सोहर होला,
बेटी के जनम परे सोग रे पुरूखवा।

गढ़वाल में कहीं-कहीं कन्याओं के विक्रय पर आधारित विवाह प्रथा प्रचलित रही है। इसीलिए वहां लड़के के विवाह के लिए लिया गया ऋण परिवार पर दुसह बोझ बन जाता है। एक गढ़वाली लोकगीत में एक महिला कहती है कि यदि साहूकार ब्याज न बढ़ाता तो स्वामी परदेस न जाते। विधाता तूने यह क्या किया? पिता, तूने भी रूपयों की

थैलियां भरीं। मां ने भी मुझे इसलिए पाला कि तीन हजार रूपये खाऊंगी। गढ़वाल में नारी का जन्म ही क्यों होता है? रो-रोकर अंगिया भीग गई है। मेरे स्वामी तुम परदेस को चले और तुम्हारे साहूकार छज्जे पर आ बैठे। आशा थी कि अच्छे दिन आयेंगे, पापी, पता न था कि वन-वन रोना पड़ेगा। स्वामी मुझे तुम्हारी सुध आती है, मैं अल्पबुद्धि लड़की कैसे रहूंगी।

मालवा क्षेत्र में हाली लोकगीत किसानों मे काफी लोकप्रिय है। इसमें खेतों में कठिन श्रम करके अनाज उत्पन्न करने वाले किसानों की स्तुति की जाती है। हल चलाने वाले अर्थात् किसानों को हाली कहते है। एक हाली लोकगीत में हाली को लाखों रूपये की संपत्ति कमाने वाला तथा परिवार का सम्मान बढ़ाने वाला कहा गया है :

हाली ढ़ो हजारी डो म्हारो लाखां को बेपारी।
हाली म्हारो हल हांके।
हाली जी, माथा का पागा तो हाली जी हद वणी।
मोती को मोल हजार।
हाली ड़ो म्हारा लाखां का बेपारी।

मैथिली लोकगीतों में किसानों की गरीबी और उनके अभावग्रस्त जीवन का मर्मस्पर्शी वर्णन किया गया है। एक लोकगीत का तात्पर्य यह है कि हे भोले नाथ! तुमने मुझे कैसे गरीब बना दिया। थोड़ी सी खेतीबाड़ी थी उसे भी छीन लिया। सगे भाई थे, वे भी अलग हो गए। न घर मे खाने के लिए अनाज है और न ही बाहर ऋण मिलता है। गांव का जमींदार रात मे सोने नहीं देता। एक ही लोटा है और तीन भाई हैं। पानी पीने के समय छीना-छीनी होती है। एक ही बैल बचा था, उसे भी महाजन ने कर्जे मे ले लिया। हित, मित्र, कुटुंबी सभी पराये हो गये हैं :

हे भोला बाबा केहन कयलौ दीन।
खेती पथारी भोला से हो लेला छीन।।
भाई सहोदर से हो गें गेल भीन।
घर में खरची बाहर न मिले रीन।।

एक व्रज लोकगीत में श्रीकृष्ण भगवान से प्रार्थना की गई है कि वे किसानों का दुःख दूर करें क्योंकि किसान लगान की वसूली, कुड़की, बेदखली, कर्मचारियों की मनमानी और अनाज की कमी से परेशान हैं

रोये दीन किसान हमारी लै सुध गिरधारी/जेठ बोहरो मांगै अपनों कहै फिर दैनै कूं।
आयौ कुड़क अमीन मेजवानी की लैवे कूं/गयो पर बड़ो जबर फंदा!
सेहना खांये जाय गढ़ी में बोले कारिदां/दई कर बेदखली जारी।
लागत ही असाढ़ परौ कुहराम कुटुम भर में/
छोरा छोरी बिना नाज के रोय रहे घर में।।

गढ़वाल की एक गरीब महिला का पति परदेस में है। घर में उसकी जो दशा हुई उस पर रचित एक लोकगीत का तात्पर्य यह है कि स्वामी मुझे पत्र लिख देना कि तुम कब घर आओगे। इस अकाल में हमारे बाल-बच्चे भूख से मर गये। एक लड़का सातवें दर्जे में पढ़ता था, हे स्वामी! वह भी कल रात मर गया। स्वामी तुमने मेरे वे बुरे दिन नहीं देखे, मैं अभागिन सारे साल भर रोती रही हूं। मेरी साड़ी फट गई है, अंग पर अंगिया भी नहीं बची है। लोग भूख-नांग में चुन कर नाम रखते हैं :

चिट्ठी मेरी लिख देणी कब आला डेरा वो/
नौनी नौना भूखन मर्या अबका अन्न काल मा।
एक नौनू पढ़दू छयो दरजा सात मां/
उभी गुजरी गए थे जी ब्याली रात मा।
तुमनी न देख्या स्वामी बेहाल मेरा वो/
मैं अभागी रोंदी रयूं सारा साल मा।
धोती फट गई मेरी, आंगड़ी नौ आंग मां/
लोग चूनी चूनी नौऊं धरदा भूख नांग मा।

एक अवधी निरवाही लोकगीत में भाई के बहन के घर आने और उसके अभावग्रस्त एवं कष्टमय जीवन को देखकर दुःखी होने का मर्मस्पर्शी वर्णन किया गया है। इसमें बहन भाई से कहती है कि भाई अपने घर जाकर मां से मेरा दुःख मत कहना अन्यथा वह इसे सुनकर मर जाएगी। इसे पिताजी से न कहना। वह इसे सुनकर पश्चाताप करेंगे। काकी से न कहना क्योंकि वह ताना मारेगी। . . मेरे प्रिय भाई इस दुःख को अपने मन में ही रखना। तुम मेरी विपत्ति की इस गठरी को गंगाजी में डुबो देना। इस करूण गीत में गरीबी एवं कुटुंब के लोगों की भावनाओं का प्रभावी चित्रण करते हुए विपत्ति की गठरी को सदा के लिए अंत कर दिये जाने की कामना की गई है :

पछली करथनियां बीरन हमरा भोजनवां रे नां/
भइया! ओहू मां से देवरा कलेडना रे ना।
ओहू में कुकुरा बिलरिया रे ना/
सासु लुगरिया बीरन हमारा ओढ़नवां रे ना।
बीरन! ओहू मां से ननदी ओढ़निया रे ना।

राजस्थानी लोकगीतों में जनता की गरीबी का दयनीय चित्रण किया गया है। एक लोकगीत में एक महिला कहती है कि हे भाई! मेरी बहुत दीनदशा है। मैं जूते के अभाव में पैरों में आक के पत्ते बांधती हूं। सिर पर ओढ़ने के लिए ओढ़नी नहीं है। मैं नंगे सिर ही फिरती हूं। कभी-कभी सिर पर पीपल के पत्ते भी बांध लेती हूं :

पगां तो बलती बेरा मूं फरूं/बांधिया तो आकड़ ले रा पान
माथे नो मोढ़ी बीरा मूं फूरूं/बांधिया तो पिपलिया रा पान।

भारतीय जनता ब्रिटिश शासन में किये जा रहे शोषण, महंगाई, अनेक प्रकार के करों के बोझ और दमन आदि से पिस रही थी। वह अंग्रेजों के गुलाम उन देशी राजाओं की स्वेच्छाचारिता तथा उनके जोर जुल्म से भी पीड़ित थी जो अपना स्वाभिमान और देश प्रेम खो चुके थे। बुंदेलखंड की जनता ने 14 जनवरी 1931 को चरणपादुका (छतरपुर) में एकत्र होकर अपनी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया। अंग्रेजों ने मशीनगन चला कर अनेक देशप्रेमियों को भून दिया। डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त द्वारा संग्रहीत एक बुंदेली लोकगीत ने चरणपादुका कांड के उपेक्षित इतिहास को सुरक्षित कर दिया है। इस लोकगीत के कुछ अंश हैं :

बुंदेलखण्ड की जनता रोबै, भये राजा अत्याचारी।
अंग्रेजन के गुलाम राजा, तिनके हम गुलाम भारी।।
सत्ताईस कर हमरे सिर पै, कैसे चुकत चुकाये सें।
है बेकारी कर्जा भारी, सूत पै सूत लगाये सें।।

सुप्रसिद्ध कथाकार फणीश्वरनाथ रेणु ने अपने लोकप्रिय आंचलिक उपन्यास *मैला आंचल* में एक लोकगीत दिया है। इस मैथिली भड़ौवा में छुआछूत और जाति प्रथा का विरोध किया गया है। इन लोकगीतों में गरीबी व पिछड़ी हुई ग्रामीण जनता की उत्कृष्ट मानवीय भावनाओं तथा आर्थिक-सामाजिक शोषण के विरुद्ध उसके विद्रोही स्वर की अद्भुत एवं सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। इन गीतों का संग्रह तथा इनका प्रचार-प्रसार आर्थिक-सामाजिक क्रांति में सहायक होगा। □

डॉ. विश्वमित्र उपाध्याय : प्रख्यात लेखक और पत्रकार। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन, विशेषतः क्रांतिकारी आंदोलन के अनुसंधानकर्त्ता व लेखक। सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार के साथ कई दूसरे पुरस्कार प्राप्त।
संपर्क : बी-55, गुलमोहर पार्क, नयी दिल्ली।

भक्तिकाव्य और लोक जीवन

डॉ. प्रेमशंकर

भक्तिकाव्य के लोक जीवन की समझ के लिए कुछ तथ्य सामने रखने होंगे। भक्तिकाव्य एक लंबी चिंतन परंपरा की उपज है जिसकी भूमिका में भक्ति चिंतन, आलवार संत, सिद्ध-नाथ आदि की रचनाशीलता मौजूद है। इसका वैचारिक-दार्शनिक आधार है और उसकी सक्रियता सभी देशी भाषाओं में देखी जा सकती है। वास्तव में समग्र भक्ति आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में रखकर इसे देखना उचित होगा। इसकी पीठिका में मध्यकालीन सामंती समाज है और प्रो. नूरूल हसन के अनुसार जिसकी प्रकृति पाश्चात्य सामंतवाद से भिन्न है, तथा जिसके अपने अंतर्विरोध हैं। कवियों की अपनी बनावट के कारण यहां प्रतिक्रियाएं अलग ढंग से व्यक्त हुई हैं और कई बार उनमें विरोध जैसा भी दिखाई देता है। पर कुल मिलाकर रचना का एक समवेत स्वर उभरता है, जिसे हम भक्ति साहित्य कहते हैं। दीर्घकाल में फैला हुआ भक्तिकाव्य और उसकी प्रवृत्तियां ईसवी सदी से आरंभ होकर गुरू नानक (1469-1538) तथा गुरू गोविंदसिंह (1666-1718) तक जाती हैं। हिंदी भक्ति रचना का मुख्य वृत्त चौदहवीं ईसवी सदी के आरंभ से सत्रहवीं के मध्य तक स्वीकार किया गया है। इतिहास की दृष्टि से अलाउद्दीन खिलजी (1295-1317) से लेकर जहांगीर (1605-1627) शाहजहां (1627-1658) तक का समय। इस बीच कई शासक-वंश आए— खिलजी, तुगलक, सैयद, मुगल, अफगान आदि।

भक्तिकाव्य अपने समय को जानता-पहचानता है और इस संबंध में उसे सिद्ध नाथ-संत काव्य की उस परंपरा से प्रेरणा भी मिलती है, जहां आभिजात्य के प्रति विद्रोह का भाव दिखाई देता है। जैन, बौद्ध धर्म ने आत्मा-ईश्वर के विषय में संदेह व्यक्त करके प्रचलित ब्राह्मणवाद को चुनौती दी थी, पर कालांतर में विद्रोही दर्शन भी प्रतिक्रांति में उलझ जाते हैं। राहुल सांकृत्यायन, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि ने सिद्ध-नाथ-संप्रदाय की विद्रोही चेतना को रेखांकित किया है। भक्तिकाव्य को अहसास है कि भक्तिमार्ग को सामान्यजन के लिए सुलभ कराना होगा और इसलिए उनका गंतव्य 'लोकधर्म' है जिस विषय में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी को सही प्रस्थान दिया। मध्यकाल में अभिजन समाज और सामान्यजन के दो अलग संसार हैं, जैसे चरनदास के शब्दों में: *एक दुखी, एक अति दुखी, एक भूप, इक रंक।* कर्मकाण्ड, पुरोहितवाद प्रायः विशिष्ट वर्ग के हितों से जुड़ जाते हैं और भारत जैसे परंपरावादी समाज में सामान्यजन छला जाता है। लोक को केंद्र में लाने के लिए भक्तिकाव्य ने लोक को परिभाषित किया। कौन सा लोक-समाज, जहां श्रमजीवी सामान्य वर्ग है जीवन-संघर्ष से गुजरता हुआः कवितावली के उत्तरकांड में तुलसीदास ने निम्न वर्ग का उल्लेख किया है: चांडाल, कोल, भील के अतिरिक्त किसबी, किसानकुल, भिखारी, भाट, चाकर, चपलनट, चार चेटकी। कवि में अपने समय की

वास्तविकता है: *आगि बटवागि तें बड़ी है आगि पेट की।* प्रो. इरफान हबीब का मत है कि राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नये वर्गों का उदय हुआ।

भक्त कवियों ने आभिजात्य के आच्छद को तोड़ा और इसके लिए अपने चरितनायकों को लोकभूमि पर संचरित किया। मूल्य-भरे सामाजिक कर्म से ही मानव-व्यक्तित्व को अर्थदीप्ति मिलती है। सही कर्म सौंदर्य है। भक्त कवि अपने नायकों को देवत्व की भूमि से बाहर लाकर उन्हें सामान्यजन के मध्य सक्रिय करते हैं। तुलसी यह नहीं भूलते कि राम में देवत्व है, पर वे यह भी जानते हैं कि देवता पृथ्वी पर अवतरित होकर ही शोभा पाते हैं: *'भये प्रकट कृपाला, दीनदयाला, कौसल्या हितकारी'* का समापन है: *विप्र, धेनु, सुर, संत हित लीन्ह मनुज अवतार।* गीता में भी *'यदा यदा हि धर्मस्य'* के मूल में आशय मूल्य-प्रतिष्ठा का और सामान्यजन की रक्षा का है। भक्त कवियों का लोक आभिजात्य के स्थान पर सामान्य को प्रतिष्ठित करता है। तुलसी का ध्यान ग्राम-कृषक समाज पर है। सूर में कृषि-चारागाही संस्कृति की प्रधानता है। कबीर का बल सांस्कृतिक सौमनस्य पर है और जायसी प्रेमपंथ को विकल्प रूप में प्रस्तुत करते हैं।

भक्तिकाव्य में लोकजीवन की केंद्रीयता के मूल में सजग सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना है जहां भक्ति शास्त्र, पांडित्य, कर्मकांड, पुरोहितवाद से निकलकर सामान्य भूमि पर विचरण करती है। अकारण नहीं कि लोक के समक्ष जो आदर्श भक्तिकाव्य ने प्रस्तुत किया, वह अनुभव-ज्ञान और आचार है—कथनी-करनी के द्वैत को पाटता हुआ। कबीर ने जोर देकर कहा—*पंडित बाद बदंते झूठा अथवा मेरा तेरा मनुवा कैसे एक होय रे/मैं कहता आंखिन की देखी, तू कहता कागद की लेखी ...।* भक्त और उसके आराध्य से सीधा-संवाद स्थापित करने के लिए लोकजीवन का सहारा लिया गया। जब व्यर्थ के मध्यस्थ हट जाते हैं तो सही संवाद में कठिनाई नहीं होती। सूर में राधा-गोपिकाएं सब प्रत्यक्ष वार्तालाप का साक्ष्य हैं—कृष्णार्पित। यदि ईश्वर और उसके मध्य कोई मिलनसूत्र हो सकता है तो वह है, भक्ति का, जो ज्ञान-समन्वित है। प्रायः निराकार-साकार, निर्गुण-सगुण के दार्शनिक प्रश्न उठाए जाते हैं। सूर ने कहा: *सब विधि अगम बिचारहि ताते सूर सगुन लीला पद गावे।* तुलसीदास ने *'सगुनहिं-अगुनहिं नहिं कुछ भेदा'* कहकर अपना पक्ष प्रस्तुत किया। दोनों का गंतव्य एक, केवल साधन में किंचित भिन्नता। निर्गुणपंथियों ने यह अनुभव किया कि पुरोहित-परिचालित कर्मकाण्ड सामान्य-जन को छलता है। इसलिए पहले इसे ही मिटाना होगा—विशिष्ट वर्ग सामाप्त करना होगा। जिन तुलसी को परंपरावादी तक कह दिया जाता है, उन्होंने भी मूल्यहीन भूमिसुरों की निंदा की है और ग्रामबधुओं की टिप्पणी है : *ज्योतिष झूठ हमारे जाये।* मध्यकाल का वर्ग-भेद, अंधविश्वास, गर्हित कर्मकांड, घृणित उपजातिवाद उस समय का कलिकाल है जिसे तुलसी जैसे सचेत कवि ने देखा-भोगा था: *कलि बार हि बार दुकाल परे, बिनु अन्न दुखी सब लोग मरे।'* इतिहास से अकबर शासन के आरंभिक वर्षों में दुर्भिक्ष की पुष्टि होती है। मर्यादाएं टूट गई हैं, मूल्य बिला गए हैं, व्यवस्था चरमरा चुकी है। विनयपत्रिका तक में तुलसी ने इसका संकेत किया है: *शांति, सत्य, सुभ रीति गई*

घटि बढ़ी कुरीति कपट कलई है/सीदत साधु, साधुता सोचति, खल बिलसत, हुलसात खलई है।

लोकजीवन के संदर्भ में कई बार भक्तिकाव्य के चरितनायकों को लेकर ऐसी बहस की कोशिश की जाती है, जिससे हमारा ध्यान मुख्य मुद्दे से हट जाता है, जैसे लोकरंजक-लोकरक्षक का प्रश्न। श्रेय-प्रेय से कहीं अधिक वरेण्य है पर दोनों के संयोजन से समग्र व्यक्तित्व निर्मित होता है। श्रेय स्वयं प्रेय बनता है क्योंकि उसमें मृत्यु भरे कर्म की सौंदर्य दीप्ति होता है। लोक की सहज स्वीकृति, सौंदर्य है और यह तभी संभव है जब स्वयं को लोक म संचरित किया जाय। इससे व्यक्तित्व की विश्वसनीयता बनती है, व्यक्ति स्वयं साधारणीकृत होता है। राजा रत्नसेन जब राजमहल का परित्याग कर योगी रूप धारण कर संघर्ष मार्ग पर चलते हैं तो उन्हें सहानुभृति मिलती है। राजमहिषी नागमती वियोग से गुजरती है और कवि उसे सराहता है: *मुहम्मद सती सराहिए जरै जो अस पिय लागि।* सूर की राधा का सौंदर्य उसके तप-त्याग में है, केवल 'कनकवल्ली देह' में नहीं। स्वयं कृष्ण इसे स्वीकारते हैं। राम की प्रिया सीता का स्मरण उन्हें सामान्यीकृत करता है, उन्हें मनुष्य की सहज भूमि पर संचरित करता है। यहां देवत्व परिपार्श्व में चला जाता है, और उसके स्थान पर उभरता है एक सहज मनुष्य रूप जो स्वयं को लोक से संबद्ध कर कृतकृत्य होता है: *सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि कहि पछिताहीं।*

रचना की वाचिक परंपरा से जोड़कर भक्तिकाव्य स्वयं को अधिकाधिक लोकधर्मी बनाता है और उसे एक नयी समृद्धि मिलती है। भक्त कवियों का अनुभव-संसार लोकनिर्मित है—लोक के मध्य पाया गया, शास्त्र और पुस्तकीय ज्ञान का अतिक्रमण करता हुआ। कबीर ने स्पष्ट कहा—*पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय/ढाई आखर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय।* यहा प्रेम रूमानी भावावेश नहीं है और न एकांतिक व्यक्तिवाद। वह विवेक सम्मत है—माया-मोह-आसक्ति पर विजय प्राप्त कर वृहत्तर संवेदन-संसार में पहुंचने का प्रयत्न। इसीलिए इनके परम देवता ही नहीं, अन्य भक्ति चेतना संपन्न पात्र भी सर्वस्वीकृत हैं—यहां तक कि मनुष्यों के साथ वानर तथा पशु-पक्षी भी। एक प्रकार से भक्तिकाव्य अपने लोकसंवेदन का विस्तार इस सीमा तक करता है, जिसमें प्रकृति की भूमिका सार्थक और महत्वपूर्ण होती है। एक पूरा बिंब प्रतीक संसार उभरता है और कबीर का 'ताना-बाना' गंभीर अर्थ का वाहक बनता है। राम प्रकृति से अपनी पीड़ा व्यक्त करते हैं: *हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी/तुम्ह देखी सीता मृगनैनी।* ऋतुएं राम के देवत्व को आकुल कर जाती हैं क्योंकि वे मनुष्य रूप में आचरित हैं। भक्तिकाव्य में प्रकृति की उल्लेखनीय भूमिका लोकजीवन का अविभाज्य अंश है। भ्रमरगीत में गोपिकाएं वियोग को बिंबित करने के लिए यमुना का सहारा लेती है: *'देखियति कालिंदी अति कारी।'* अथवा *'तुम्हारे बिरह ब्रजनाथ, अहौ प्रिय नयनन नदी बढ़ी/लीने जात निमेष कूल दोउ एते मान चढ़ी।'*

मध्यकाल के अपने दुःख-सुख है, जैसे हर समय-समाज के होते हैं और कवि इन स्थितियों से पलायन नहीं कर सकते, चाहे देवता का आश्रय ही क्यों न हो। यह द्वंद्व

भक्तिकाव्य में बखूबी उभरा है, जिसे हम वास्तविकता और इच्छा का द्वंद्व कह सकते हैं। दशरथ और अयोध्या-समाज की इच्छा है कि राम का राज्याभिषेक हो, मर्यादा पुरूषोत्तम राजा बनें। पर देवता जानते हैं कि राम अयोध्या में रहें तो फिर उनका संकट कम नहीं होगा, राक्षसों की अराजकता बनी रहेगी। ऐसे में उपयोग भी किया जाता है तो 'सरस्वती' का। वह जानती है कि वह कमलवन के लिए हेमंत ऋतु की रात्रि है, महाभारत के भीष्म की तरह असमंजस की स्थिति। देवताओं के विषय में सरस्वती की टिप्पणी है: *ऊंच निवास नीचि करतूती/देखि न सकहिं पराई विभूती*। तुलसी ने 'देव कुचाली' शब्द का प्रयोग किया, जो राम की विजय पर प्रसून वर्षा करके अपने कर्तव्य की समाप्ति मान लेते है, पर स्वयं कर्म की भूमि पर अवतरित नहीं होते। अयोध्या में अंतःपुर की राजनीति, मध्यकालीन सामंतवाद का एक लघु संस्करण बनकर चलती है। पर भक्त कवि संघर्ष से ही अपने चरित्रों को कर्म भरा सौंदर्य देते हैं। राम की अयोध्या में रोक दीजिए और उनका व्यक्तित्व ही अधखुला रह जायगा। कृष्ण कंस से टकराएंगे नहीं तो कृष्ण कैसे होंगे? लोकप्रचलित गाथाओं और किंवदंतियों का चरितनायकों के जीवन में इस ढंग से प्रवेश कराया गया है कि उनका चमत्कारी अंश कम हो जाय, वे जीवन की धार में स्वाभाविक रूप से आएं। बालक राम, कृष्ण अपनी माताओं को एक क्षण के लिए अपना अलौकिक रूप दिखाते जरूर हैं, पर व्यवहार, आचरण में वे सहज-सरल हैं। सूर के बालवर्णन को इसी रूप में देखा जाना चाहिए। यहां उनका राजसी रूप गायब है, वे सहज बालक की तरह लीलाएं करते हैं: *घुटुरन चलत रेनु तन मंडित, मुख दधि लेप किए*। कृष्ण की माखन चोरी भी सामाजिक है, जैसे यहां कुछ दुराव-छिपाव नहीं और यशोदा भी जानती हैं कि गोपिका उलाहना के बहाने कान्हा को देखने आई है।

सामान्यजन की निरंतर उपस्थिति से भक्तकवि अपनी रचना को लोक सापेक्ष बनाते हैं। कबीर, जिन्हें किसी कथानक की सुविधा नहीं है, अपने काव्य में एक श्रोता कल्पित कर लेते हैं, जैसे किसी को संबोधित कर रहे हों—साक्षी, संत, अवधूत, जोगी आदि संबोधनों से। यह नाटकीय कौशल मात्र नहीं है, स्वयं से बाहर निकलकर लोक धरातल पर संवेदन के साथ प्रवाहित हो सकने का अभिनव प्रयत्न है। कवि जब स्वयं को भी संबोधित करते हैं, जैसे कबीर अथवा तुलसीदास तब भी उनमें श्रोता समाज सम्मिलित है। कबीर ने जब आत्मा को संबोधित करके पद लिखे अथवा साखी के माध्यम से चेतावनी दी, तब उनके समक्ष लोक उपस्थित है। तुलसी की विनयपत्रिका कवि का स्वयं का आत्मनिवेदन न होकर, अपने समय के एक ऐसे सचेत, संवेदनशील, विवेकसंपन्न कवि का वक्तव्य है, जहां वह पूरे युग की पीड़ा को व्यक्त कर रहा है। इसलिए बार-बार समय का यथार्थ झांकता है। कवि की मूल्यचिंता यह है कि मर्यादाएं स्थापित कैसे हों। पत्रिका में तुलसी की पीड़ा है: *तुलसी बिकल, बलि, कलि कुधरम।* भक्ति काव्य वैयक्तिक मोक्ष की कामना से परिचालित नहीं है, यहां सामाजिक मुक्ति का स्वप्न है। कवि जानता है कि मुक्ति सबके साथ है, इसलिए वह माया-मुक्ति की बात करता है, जो प्रकारांतर से मूल्यहीनता

से मुक्ति है।

लोक जीवन कवि-संसार में वर्णन-विवरण-वृतांत की खाना-पूरी नहीं है, वह कविता के समग्र संवेदन संसार का विलयित प्रयत्न है। जायसी से भूल हुई है कि पद्मावती ब्रह्मरूपा है, वह जहां वास करती है, उस सिंहल द्वीप में प्रकृति की पूरी पंक्ति ही उपस्थित कर दी गई। पर जायसी सजग हैं और दोहों में प्रायः परिमार्जन करने का पूरा प्रयत्न करते हैं: *मुहम्मद जीवन जल भरन, रैहट घरी के रीति/घरी जो आई ज्यों भरी, ढरी जनम गा बीति*। रचना में सूचनाओं का बहुत महत्व नहीं होता, उन्हें अनुभूति का अंश किस रूप में बनाया गया है, यह अधिक प्रासंगिक है। उल्लेखनीय है कि भक्तिकाव्य में प्रकृति के खुले मंच का प्रयोग हुआ है जिसे हम सामंती सीमाओं का निषेध कह सकते हैं। आगे चलकर जब बिहारी जैसे शिल्पी ने कहा: *'भरे मौन में करत हैं, नैननि ही सो बात'* तब जैसे सामंती प्रभाव की स्वीकृति ही है। ध्यान दें कि भक्तकाव्य में प्रकृति लोक जीवन का आधार है। तुलसी-सूर बार-बार इस ओर जाते हैं: *कृषी निरावहिं चतुर किसाना अथवा सूखत धान परा जनु पानी*। अपनी भूमि की पूरी जानकारी इन कवियों को है, सही अर्थ में देशज कवि और वे इसका भरपूर उपयोग करते हैं। पर्वत, नदी, नाले, वन, खेत-खलिहान सब इन कवियों में ऐसे रच-बस गए हैं कि कविता का पूरा विन्यास ही लोकसंवेदन से भर जाता है। अयोध्या तुलसी को केवल इसलिए प्रिय नहीं है कि वहां राम जन्मे हैं, बल्कि इससे भी अधिक इसलिए क्योंकि वहां पावन सरयू बहती है। चित्रकूट उन्हें प्रिय है—प्राकृतिक सौंदर्य के लिए: *सब दिन चित्रकूट नीकौ लागत/वर्षा ऋतु प्रवेश गिरि ऊपर, देखत मन अनुरागत*। जनकपुरी का वर्णन करते हुए तुलसी वहां की लोकप्रवृत्ति का विशेष बखान करते हैं, पार्वतीमंगल, जानकीमंगल, नहछू आदि में। सूर वनखंडी, यमुना के कूल-कछार कृष्ण गाथा को प्रभावी आधार देते हैं और कृष्ण-ग्वाल-बालों का जीवन उनसे अविभाज्य रूप में संबद्ध हो जाता है। जिसे हम कृष्ण-चरवाहा की यायावरी संस्कृति कहते हैं, उसका जैसा मार्मिक रूप सूर ने उभारा है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। कृष्ण स्वयं इस संस्कृति में सामाजीकृत होते हैं। उनमें स्वयं गो-चारण का उत्साह है: *आजु में गाइ चरावन जेहौं। वृंदावन के भांति-भांति फल, अपने कर में खैहों*। सूर ने कृष्ण के सौंदर्य की छवियां उरेहते हुए प्रकृति को स्वीकृति दी है: *बन तें आवत धेनु चराए/संध्या समय सांवरे मुख पर गो-पद-रज लपटाए*। मिलन और वियोग दोनों का साक्ष्य है प्रकृति। गोपिकाएं आश्चर्य में हैं: *मधुबन तुम कत रहत हरे?* अथवा *जहां-जहां गोदोहन कीन्हों, सूंघत सोइ सोइ ठांव*।

भक्तिकाव्य इसी अर्थ में सामान्यजन की उपस्थिति का सर्जनात्मक प्रयत्न है कि यहां लोक जीवन की उल्लेखनीय उपस्थिति है, देवत्व के बावजूद। यह लोक जीवन इस काव्य को पूर्णतया रहस्यवादी हो जाने से बचा ले जाता है, और जो आध्यात्मिकता यहां उभरती है, वह सर्वोपरि मनुष्यता के माध्यम से। माना कि पुरागाथा के उपयोग से कुछ चमत्कारी प्रसंग हैं और अलौकिक संकेत भी, पर भक्त कवियों का ध्यान, मूल्यचिंता से संपन्न मनुष्यता पर है। राम लक्ष्मण के लिए विलाप करते हैं, मनुष्य की तरह: *उहां राम लछिमनहिं*

निहारी/बोले बचन मनुज अनुसारी अथवा *बहुबिधि सोचत सोच विमोचन/स्रवत सलिल राजीव दल लोचन/उमा एक अखंड रघुराई/नर गति भगत कृपाल देखाई।* कृष्ण ऊधो से स्वयं स्वीकार करते हैं: *ऊधो, मोहि अब ब्रज बिसरत नाहीं/हंस सुता की सुंदर कगरी, अरू कुंजन की छांही/वे सुरभी, वे बच्छ दोहनी, खरिक दुहावनि जाहीं/ग्वालबाल सब करत कुलाहल, नाचत गहि गहि बांही।* राम अयोध्या लौटते हुई अपनी पुण्यभूमि का सादर स्मरण करते हैं: *अतिप्रिय मोहि इहां के बासी/मम धामदापुरी सुखरासी।* सूरदास ने राधा की व्यथा को मौनता में व्यक्त किया है, जैसे उसने सब कुछ दांव पर लगा दिया और हार गई: *अति मलीन वृषभानु कुमारी/हरि समजल भींज्यों उर-अंचल, तिहिं लालच न धुवावति सारी/अध मुख रहति अनत नहिं चितवति, ज्यौं गथ हारे थकित जुआरी।*

रचना में लोक जीवन का विन्यास और प्रामाणीकरण कई रूपों में हो सकता है और हम स्वीकार करते हैं कि भक्तिकाव्य में जो समय-समाज व्यक्त हुआ है, उसकी अपनी परिस्थितियां हैं। सभी सार्थक रचनाकार अपने समय से बहुत संतुष्ट नहीं होते, पर अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त करने की उनकी पद्धतियां अलग-अलग हो सकती हैं। प्रायः कबीर के जुझारू स्वर को रेखांकित करते हुए उनकी प्रासंगिकता का विशेष उल्लेख किया जाता है। धर्म-संप्रदाय, आडंबर में फंसे समाज पर कबीर के आक्रमण बहुत तीखे हैं, इसमें संदेह नहीं। व्यंग्य उनका आक्रोशी हथियार है, पर इसके मूल में जो कवि की व्याकुलता है, उस ओर भी हमारा ध्यान जाना चाहिए। नागार्जुन अथवा हरिशंकर परसाई संवेदन की जिस पीड़ा से गुजरते हैं, उसे जाने बिना उनके व्यंग्य की सही समझ भी नहीं हो सकती। इस अनुभूति में जो गहरी करूणा है, वह रचनाकारों को उद्विग्न करती है और वे प्रहारात्मक होते हैं। यह व्यवस्था सही नहीं है, बेहतर व्यवस्था आनी चाहिए। कवि केदारनाथ सिंह के शब्दों में: *मौसम कितना ही खराब हो, उम्मीद नहीं छोड़ती कविताएं।* लोकजीवन के प्रामाणीकरण के लिए भक्त कवि सभी कुछ वहीं से प्राप्त करना चाहते हैं, यहां तक कि दर्शन और विचार को भी वे अनुभव संसार में विलयित करने का प्रयत्न करते हैं। नवधाभक्ति आदि के कुछ प्रसंगों को छोड़ दें जिन्हें सभी ने भागवत से प्राप्त किया है तो इसके अतिरिक्त जो विचार-प्रसंग हैं, उन्हें व्यावहारिक धरातल पर प्रस्तुत किया गया है। सामान्यजन की उपस्थिति और उनकी प्रतिक्रियाएं लोकजीवन को प्रामाणीकृत करने तथा रंग भरने के लिए हैं। राम अथवा कृष्ण के जन्म के जो चित्र हैं, उनमें सारा समाज सम्मिलित है। कवितावली का आरंभ ही सामान्यजन की साझेदारी से होता है: *अवधेस के द्वारे सकारे गई सुत गोद के भूपति ले निकसे/अवलोकि ही सोच विमोचन को ठगि सी रही, जो न ठगे धिक से।* अथवा *दूब दधि रोचनु कनक थार भरि-भरि/आरति संवारि बर नारि चली गांवती।* रामचरित मानस का वर्णन है: *कोसलपुर बासी नर नारि वृद्ध अरू बाल/प्रानहु ते प्रिय लागत, सब कहुं राम कृपालु।* कृष्ण का व्यक्तित्व तो और भी सामाजीकृत है: सोभा-सिंधु न अंत रही री/नंद-भवन भरि पूरि उमंग चलि, ब्रज की बीथित फिरहि बही री। अथवा *आज बन कौऊ वैजनि जाइ/सब गाइन बछरनि समेत ले आनहु चित्र बनाइ/ढोटा है रे भयो महर के, कहत*

सुनाई-सुनाई/सबहि घोष में भयो कुलाहल, आनंद उर न समाइ। गोपी कृष्ण से ऐसी ममता पाती हैं कि उनके चले जाने पर *जहां जहां गोदोहन कीन्हों, सूंघत सोइ सोइ ठांव*। जीवन के हर क्षण में लोक जीवन और सामान्यजन की यह उपस्थिति भक्तिकाव्य को ऐसी सामाजिक गरिमा देती है कि रसखान जैसा कवि भी भाव-विभोर है: *मानुष हों तो वही रसखान, बसों ब्रज गोकुल गांव के ग्वारन*। और सूफ़ियों के प्रेममार्ग को सबका आदर प्राप्त है। सुख-दुख में सामान्यजन की उपस्थिति है। तुलसी ने ग्रामवधुओं की प्रतिक्रियाओं का विस्तृत वर्णन किया है—राम-सीता को सराहते हुए। पर वे यह भी कहती हैं कि दशरथ ने कैकैयी की बात मानकर ठीक नहीं किया। रामकथा में केवट, कौल-भील, वानर समाज की उपस्थिति को सामान्यजन के प्रति कवियों की पक्षधरता के रूप में देखा जाना चाहिए। कृष्णकाव्य का तो पूरा संसार ही सामान्यजन का है जो अपने पूरे उत्सव चेतना के साथ मौजूद है—होली, फाग, चांचरि, अनेक लोकोत्सव, टोना-टटका, जादू-चमत्कार सब कुछ। पर राम के बनवास में ग्रामजन की यह प्रतिक्रिया भी कि *ज्योतिष झूठ हमारे जाएं*। राम को बनवास तो फिर ज्योतिष का क्या अर्थ?

भक्तिकाव्य में लोक जीवन की अभिव्यक्ति कई रूपों में हुई है जहां लोक उपादानों का विपुल उपयोग किया गया है। इसमें सांस्कृतिक सौमनस्य की भूमिका भी महत्वपूर्ण है। *मध्यकाल में जो सांस्कृतिक आदान-प्रदान विकसित हुआ, उससे रचना को भी एक नयी सक्रियता मिली*। यहां कई दीवारें टूटती हैं और सूफियों की प्रेमगाथाएं इसका साक्ष्य हैं। जिन तुलसी को अपेक्षाकृत परंपरावाद से संबद्ध करके देखा गया, उनकी भी बात विचारणीय है: मांग के खइबो, मसीत को सोइबो, लेबो को एक न देबे को दोऊ (कवितावली : उत्तरकांड 106) कबीर सबको ललकारते हैं: *बहै कबीरा दास फकीरा, अपनी राह चलि भाई/हिंदु तुरक का करता एकै, तो गति लखी न जाई*। जो अद्वैत चेतना कबीर में सांप्रदायिक सौमनस्य का आधार है, उसे जुझारू कवि ने वैचारिक आधार दिया: *राम-रहीम एक है, फिर कैसी टकहराहट*। सूफियों ने इसके लिए प्रेमपंथ का संधान किया। असद अली के शब्दों में: 'सूफियों की कथनी-करनी एक थी। सादा जीवन व्यतीत करते थे तथा अपने अनेक गुणों के कारण वे हिंदू-मुसलमान दोनों वर्गों में समान आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। यह स्वीकृति भक्तिकाव्य को सांस्कृतिक गरिमा देती है। भक्त कवियों ने अद्वैत चिंतन की अभिव्यक्ति के लिए जिन उपास्यों को चुना उन्हें लोकभूमि पर संचरित किया ताकि उन्हें पूरी विश्वसनीयता मिले। इस तथ्य की ओर भी ध्यान जाना चाहिए कि मध्यकाल में विशिष्ट वर्ग का नगर-समाज है और सामान्यजन का ग्राम जीवन। जैसे दो जीवन आमने-सामने हैं, विपर्यय बनकर। शहर के लिए उपभोक्ता सामग्री जुटाता कृषक, ग्राम समाज जिसमें कई प्रकार के कारीगर भी आ जाते हैं और उधर देहवाद में उलझा विशिष्ट वर्ग। तुलसी के आदिवासी समाज की दीन-हीन स्थिति है: *पाप करत निसि बासर जाहीं। नहिं पट कटि नहिं पेट अघाहीं*। डॉ. लक्ष्मीचंद्र ने भक्त कवियों में ग्राम और नगर समाज के द्वंद्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि इसे कवियों की लोकधर्मिता के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। कबीर

का जुलाहा, तुलसी के बनवासी, सूर के ग्वालबाल सब सामान्यजन हैं—लोकपक्ष के प्रतिनिधि। गोपिकाएं मथुरा की मनोवृत्ति पर आक्रमण करते हुए कहती हैं: ***वह मथुरा, काजर की कोठरि, जै आवे ते कारें***। अथवा योग का उपदेश मथुरा की चतुर नागरिकाओं को देना, हम तो सहज निश्छल ग्राम बालाएं हैं, आदि। जायसी की नागमती भी कहती है: ***लेइगा कृस्नहि कृस्नहि अलोपी/कठिन बिछोह जियहि किमि गोपी?*** भक्त कवियों की दृष्टि ग्राम समाज और सामान्यजन पर है, आभिजात्य का निषेध करते हुए और उसे उन्होंने लोक जीवन की स्वीकृति से संभव बनाया है।

भक्त कवियों ने लोक जीवन की प्रामाणिक अभिव्यक्ति के लिए पूरा मुहावरा ही वहीं से प्राप्त किया—कला के आभिजात्य को तोड़ते हुए। सल्तनत काल में ही प्रांतीय इकाइयों में देसी भाषाओं को स्वीकृति मिलने लगी थी, जिससे सर्जनशीलता की नई संभावनाओं के द्वार खुले। संस्कृत-अरबी-फारसी का वर्चस्व टूटा। आचार्य शुक्ल ने जिसे सधुक्कड़ी भाषा कहा है, वास्तव में वह लोक जीवन का मुहावरा है जिसे सिद्ध-नाथ अपनी अक्खड़ बानी में कहते हैं। भक्तिकाव्य इसे अधिक काव्योपयोगी बनाने में सक्षम होता है। यहां कविता वक्तव्यों का अतिक्रमण कर अधिक गहरे संवेदन-संसार को व्यक्त करने में समर्थ होती है। पद्मावत के मानसरोदक खंड में सखियां कहती हैं: ***जो लगि अहै पिता कर राजू/खेल लेहु जो खेलहु आजू अथवा कित नेहर पुनि आउब, कित ससुरे यह खेल/आपु आपु कहं होहहि, परब पंख जस डेल***। कबीर, जिन्हें जुझारू स्वर के रूप में व्याख्यायित किया जाता है, वहां भी दो प्रवृत्तियां हैं—संघर्ष और समर्पण की। ये दोनों एक ही लक्ष्य पर पहुंचना चाहती हैं—मूल्यचिंता के सर्वोत्तम धरातल पर। सब कुछ कहा गया है, दैनंदिन जीवन से प्राप्त मुहावरे के माध्यम से। भाषा कहीं से भी प्राप्त की जा सकती है—बहता नीर की तरह, शर्त यह कि वह संवेदन संसार का हिस्सा हो और उसे काव्योपयोगी बनाया जाए। तुलसी में भाषा के अनेक तेवर हैं, स्वयं को भाव-विचार के साथ बदलते हुए और सूर में पूरा ब्रजमण्डल ही अपने लोकजीवन के साथ समा गया है जैसे। मीरा अपनी लोकचेतना की सहज अभिव्यक्ति देकर मार्मिक बनती हैं—मध्यकाल में नारी-मुक्ति का स्वप्न देखती हुई।

भक्तकवियों का वैशिष्ट्य यह भी है कि उनके पास एक कल्पित स्वप्न है, 'विज़न' जहां सर्जनात्मक कल्पना नयी उठान लेती है। जैसा समय है, उसका चित्रण उन्होंने संकेत से किया, अपने ढंग से कलिकाल आदि का सहारा लेते हुए। पर वे यहां रूक, ठहर जाते तो संभवतः वह अधूरी रचना-यात्रा होती। भक्तिकाव्य में कल्पित लोक हैं रामराज्य, बैकुंठ, सिंहल द्वीप, अलख निरंजन का देश आदि। यह कल्पित संसार हमें किसी ऐसे रहस्य लोक में नहीं ले जाता, जहां लोक का प्रवेश न हो। गृहस्थ के लिए वह सुलभ है और देहवाद-भोगवाद से ऊपर उठने की क्षमता रखता है, वह आध्यात्मिक संसार को प्राप्त कर सकता है। कबीर ने सबको फटकारा, यह उनका निषेध पक्ष है, पर वे विकल्प भी तलाशते हैं: ***संतो भाई आई ग्यान की आंधी***। विवेक सर्वोपरि है, जो आत्मसाक्षात्कार से विकसित

होता है। भक्ति के प्रेम में भी विवेक है—जागरण का सहायक *मन मस्त हुआ फिर क्यों बोले?* सूफियों ने अहं के विलयन पर बल दिया—लोक में रहकर भी लोकोत्तर होना कठिन साधना है जैसे मूल्यचिंता और सात्विक सामाजिक कर्म से पाया जा सकता है। *डॉ. वीरेंद्र मोहन* ने भक्तकवियों की मूल्यचिंता पर महत्वपूर्ण कार्य किया है। भक्तकवियों ने संघर्ष किया और अपने चिंतन को कर्म से जोड़कर कविता को नयी समृद्धि दी, लोक को सीधे संबोधित किया। डॉ. *रामविलास शर्मा* ने इसे तुलसी का 'लोकोन्मुख दर्शन' कहा है। सामान्यजन आज भी उनकी ओर देखते हैं क्योंकि वे वहां स्वयं को उपस्थित पाते हैं। भक्त कवियों ने संक्रांतिकालीन समय में विकल्प खोजा और कहा हमारे राजा मूल्य समन्वित हैं, सर्वगुण संपन्न, वे आध्यात्मिक सम्राट हैं, लोक की चिंता करते हुए। भरत-त्याग-तप के प्रतीक हैं: *जात मनावन रघुवरहि भरत सरिस को आजु?* *किसी भी सत्ता-संघर्ष में भरत* एक विरल व्यक्तित्व हैं, इसीलिए प्रणम्य हैं।

राम की संघर्षगाथा इस दृष्टि से भी विचारणीय है कि लोक-कल्याण के लिए वानरी सेना का संगठन किया जाता है पर यह कोई गिरोहबंदी नहीं है, वह सामाजिक लक्ष्य के लिए समर्पित अभियान है: *केहि बिधि मरहि विस्व दुखदाता*। भक्त कवियों ने असाधारण को साधारण की भूमि पर कर्मवान बनाया, लोक से गहरे रूप में संबद्ध किया, विश्वसनीयता प्रतिष्ठित की, मूल्यचिंता से निष्पादित किया और इसीलिए उनकी लोकसंपृक्ति हमें आज भी उसकी प्रासंगिकता पर विचार करने के लिए बाध्य करती है। भक्तिकाव्य की मध्यकालीन सीमाएं हैं, उससे आज की मांग करना ज्यादती होगी और यह बात किसी भी सार्थक रचना के लिए कही जा सकती है। □

डॉ. प्रेमशंकर : आलोचक और कवि। भक्ति काव्य संस्कृति, आधुनिक कविता, नयी कविता पर विशेष कार्य। विदेशों में भारतीय साहित्य-संस्कृति के प्राध्यापक रहे।
संपर्क : बी-16 सागर विश्वविद्यालय, सागर, म.प्र.

गुजराती कहानी

बुधली

जॉसेफ मॅकवान

मकान बन रहा था, उन दिनों की घटना है। एक आदमी दौड़ा-दौड़ा पुराने घर पर आकर बोला, "बड़ा हंगामा मच गया है। झट चलिए।"

जाकर देखा तो नए मेमान का सिर लहूलुहान और भील मजदूरों की टोली अपनी गठरियां बांधने लगी थी। एक जवान औरत, जिसकी आंखों में खून उतर आया था, अपने नथुने फुलाते हुए बड़ी ही लापरवाही से कमर पर हाथ टेककर खड़ी थी।

जख्मी मेमान कहने लगा : "मैं तो थाने जा रहा हूं। आपके लिए ही रूका था। उसने मेरा सिर फोड़ दिया है। यह औरत पागल हो गई है।"

मैं कुछ कहूं इसके पहले ही वह औरत छेड़ी गई नागिन की तरह फुफकारती हुई बोली : "तेरा मनहूस मुंह संभाल, मुये। नई (नहीं) तो भुरता बना दूंगी तेरा।" और सचमुच उसे आगे बढ़ते हुए देखकर मरद कहलाने वाले उस प्राणी की आंखों में मैंने डर देख लिया।

हाथ में अपना गारा फैलाने का औजार गोल-गोल घुमाते हुए कुछ कुतूहल से इस कांड को नीहार रहे मेमानों के सरदार को संबोधित करते हुए मैंने पूछा : "क्या हुआ रे, अखा?"

"कुछ भी नहीं, साहेब। यह आदमी जरा-सा हंसने लगा तो वह तो मानो मिर्च हो गई।"

"सच बोलो, भगत काका—आपकी भगती की सौगंध! तीखी बन चुकी वह औरत दो डग आगे बढ़ी और अखा भगत ने आंखे झुका ली।

शाम के कोई चार बजे थे। मैंने कहा : "आज काम बंद कर दो। मेरे काम में ऐसे टंटा-फसाद मुझे पसंद नहीं है।" और झुंझला रही उस औरत से भी सुना दिया: "और किसी का खून बहे यह तो मैं भी नहीं चाहूंगा। मेरा स्वभाव कैसा है यह तो आप लोग जानते ही हैं।"

"अखा काका, आप अपना गारे का औजार संभालिए। ओये छगना, लखा, काची, चलो सब। पानी दिया हुआ माल खराब नहीं करते हैं। सांझ होते चल देंगे।"

वह फावड़े से गारा पलटने लगी। जिनको उसने हुक्म किया वे सब लोहे के तसले उठाए उसे घेरकर खड़े हो गए। अखा अपना खाना खाने बैठ गया। उस लहुलुहान आदमी को मैं अपनी संस्था की डिस्पेंसरी में ले गया। उसका लंबा और गहरा घाव देखकर ब्रदर बोले : "ड्रेसिंग किए देता हूं। टांके लेने होंगे।"

दरवाजे से बाहर आते ही उस आदमी ने कहा : "टांके मैं लगवा लूंगा। ठेकेदार के हाथ मेरे औजार भेज दीजिए।"

मैं लौटा तब मकान बनाने का काम चालू था। छगना ने मुझसे समझाते हुए कहा : "वह नया मेमान दो दंन (दिन) से मेरी भैन को तंग कर रहा था। बुधली के बनाए हुए गारे में वह गलती दिखाता था। कहने लगा कि तू तसले उठाकर ला। आप तो जानते ही हैं, मायेब, वह रोज आदमी का काम करती है। हम और आप भेजी हुई चाय पी रहे थे तब बुधली दीवार के पास जमीन पर से गारा उठाने गई। उस नठोर आदमी ने उसका हाथ पकड़ लिया और कहने लगा कि चल मेरे संग नडियाद। तुझे पिक्चर दिखाऊंगा। बुधली को जो गुस्सा आया कि उसने अपना बलोया (बड़ा भारी कंगन) दे मारा।"

शाम होते सचमुच ही सब जाने के लिए तैयार हो गए। मैंने कहा: "आप लोगों का ठेकेदार अभी दो दिन बाद आएगा। उस दूसरे आदमी को मैंने निकाल दिया है। मेरे बारे में आपकी कोई फरियाद हो तो बताओ। यूं आप लोग बीच में ही चले जाएंगे तो मेरा काम कबाड़ा हो जाएगा।"

तुरंत बुधली ने कहा : "ओये, खोल दो अपनी पोटलियां। और सायेब इतना कहे देती हूं मैं कोई गलत बात नहीं सह लूंगी।"

बुधली से यह मेरा पहला परिचय। वह खासी कद्दावर थी। गठा हुआ शरीर। दोनों गाल और चिबुक पर सुहाने गुदने। रंग कुछ स्याह। सुरेख दंत पंक्तियां और घनी भौंहों के नीचे बड़ी मस्तानी आंखें—भिलनी के वेश में किसी का भी ध्यान आकर्षित करेगी।

काम में वह जोशीली और उतनी ही जबरदस्त। और उसका फावड़ा तो ऐसे चलता था कि कोई मरद भी शर्माने लगे। थोड़ा-सा भी गारा खराब नहीं होने देती थी। और तसले तो ऐसे फटाफट भेजती थी कि मेमान हांफने लगते थे। ठेकेदार एक समय मेरा विद्यार्थी था। बहुत ही भला। सबके साथ उसकी अच्छी जम गई थी। दो-चार दिन के बाद जब कभी वह साईट पर आता था तो सबको लगता था गोया अपना ही कोई खास आदमी आ गया हो। सब खुशी से झूम उठते थे। "सायेब आ गए, सायेब आ गए।" चारो ओर सुनाई देता था। ठेकेदार उनकी खर्ची देता था। इस पर उन्हें कोई कहने-टोकने वाला नहीं था। खर्ची देने का काम मुझे सौंपते वक्त उसने एक सलाह दी थी : "हफ्ते-हफ्ते इनका हिसाब करें तो सबको पांच-पांच ज्यादा दें और बुधली को दस। इस तरह ऊपर से देने के पैसे आप मेरे हिसाब में से काट लें। मेरा यह नियम है।

मैंने पूछा था : "यह कैसे हो सकता है?"

आम तौर पर ऐसे आदिवासी मजदूर टोली बनाकर रहते हैं, लेकिन सबका चूल्हा अलग होता है। बुधली की टोली इस बात में भी निराली थी। उसके दो भाई, चाचा-चाची और दूसरे छह आदमी मिलाकर कुल ग्यारह लोग थे। मकान बन रहा था वहीं पास में वे सब सो जाते थे। रोज वहां दो ही चूल्हे जलाते थे। एक पर उसकी चाची सब्जी पकाती थी और दूसरे पर बुधली ऐसी करारी रोटियां सेंकती थी कि मुंह में पानी आ जाए। जगह इतनी साफ कि देखते ही रह जाएं। उनका भोजन हर तरह से प्रीतिभोज होता था। बड़ी

लिज्जत के साथ सब खाना खाते थे। दूसरी जगहों पर मैंने देखा था कि औरतें बेचारी चूल्हा फूंकती रहेंगी और मरद बैठे-बैठे डटकर खाते रहेंगे। रोटियां सेंकने वाली की बारी तो ठीक आखिर में ही आती थी जबकि यहां का ढंग तो न्यारा था। बुधली सबको गरम-गरम रोटियां देती जाती थी। जिसको रोटी दी जाए वह उसे अपनी थाली में मसल देता था और इस पर चाची रसदार सब्जी परोसती थी। मसलने वाला सब्जी रोटी में मिलाता रहता था। अंत में चाची अपनी और बुधली की रोटियां मसलती थी। तब तक बुधली जरूरत को देखकर दो-चार और रोटियां सेंक लेती थी। बुधली के अपनी थाली उठाते ही भोजन समारंभ शुरू होता था। दुनिया भर की बातें और संतुष्ट तृप्ति की डकार के साथ सब अपने-अपने बरतन मांज लेते थे।

हफ्ते-हफ्ते खरचे के रुपये मिलने पर सब रसद के खर्च का अपना-अपना हिस्सा दे देते थे। तीनों भाई-बहन के जो पैसे बचे रह जाते थे, संभाल कर रखने के लिए मुझे दे दिए जाते थे और उस रकम का आंकड़ा लिखवाकर उसकी पर्ची को बुधली अपनी चोली की जेब में सरका देती थी।

वे सब दो जून ही खाना खाते थेः सुबह और शाम। दोपहर को केवल पानी पीकर आराम कर लेते थे। मुझे आश्चर्य होता था इसलिए पूछ लेता था।

''इतना तन तोड़ने के बाद दोपहर में आप लोगों को भूख नहीं लगती है क्या?''

''जरूर लगती है।''

''तो फिर खाते क्यों नहीं हैं?''

''नई पुसाता है सायेब।''

''थोड़ा कुछ गांव ले जाने के लिए भी जमा करना पड़ता है जो हारी-बीमारी में और लेने-देने में काम आए।''

''लेकिन भूखों रह कर?''

''सुबह खा लेते हैं न? फिर छुट्टी का टाइम भी कित्ता? कब रोटी पकाएं?''

बात ठीक ही तो थी। सवेरे ज्यादातर तो खिचड़ी या थूली पका लेते थे और सुबह का खाना भी तो जल्दी-जल्दी में होता था। वैसे शाम का खाना ही वे मौज से खाते थे।

जब यह पता चला तो हम दोपहर में चाय के साथ गेहूं के फुलके न सही, बाजरी की रोटी हमारी ओर से देने लगे। कमरतोड़ मजदूरी करने वालों के लिए इतना खर्च उठा लेना हमारे लिए भारी नहीं था। साथ में कभी लौंदि जैसी मूंग या मौठ की दाल हो तब तो वे बड़े ही खुश हो जाते थे।

मैं अक्सर कहता था : ''बुधी बून (बहन), तेरे हाथो पकी रोटियां देखता हूं तो मेरा भी खाने को जी करता है। लेकिन तू जो है, अपने मुंह से कहती ही नहीं है कि ''आइए, रोटी खाइए।'' मेरी बात वह हंसी में उड़ा देती थी। लेकिन एक बार उसने गंभीर भाव से पूछाः ''तो, सायेब, क्या आप हमारा खाना खाएंगे?''

जात-पांत में रचे हुए इस फासले ने उस अबोध आदिवासी नारी के मन में कैसी

उलझन पैदा कर दी थी। यह देखकर मेरा मन खट्टा हो गया। फिर भी मुंह पर मुस्कान लाते हुए मैंने कहा।

"अरे, तेरे हाथ की रोटियां तो भगवान को भी अच्छी लगेंगी।" और उसने हंसी बिखेर दी। दो दिन के बाद उसने ही मुझे निमंत्रण दिया :

"सायेब, आज शाम हमारे साथ खाना खाइए।"

"अरे, मैं तो मजाक कर रहा था। तू कोई फिक्र मत कर। मैं तो यूं ही कह रहा था।" इसके साथ ही उसके चेहरे पर जो भाव आ गया वह जैसे कह रहा हो, "हमारा खाना नहीं खाएंगे।" और इसके पहले कि वह कुछ कहे, मैंने कहाः "ठीक है। लेकिन रोटी ही पकाएगी। मैं यहीं आप लोगों के साथ खाना खाऊंगा।" और मैंने बात का रूख बदल दिया।

घर के मक्के की रोटी, छोले और प्याज और ऊपर से इमली डाली हुई सब्जी। और इससे भी ज्यादा उनके दिल को भर रहे भाव—फिर भी मैंने उन्हें उनकी मर्जी का खाना नहीं पकाने दिया था इस बात को लेकर वे दुखी थे। लेकिन उनका पकाया हुआ भोजन मैंने जिस लिज्जत के साथ खाया था, वह मुझे आज भी याद है।

मकान की दीवारों में ईंट की कंगनी बन चुकी थी और फर्श से बालाखाने तक का हिस्सा ऊंचा बनाने का काम शुरू हो रहा था। तभी एक दिन शाम के वक्त छगना दौड़ा-दौड़ा आया।

"सायेब, झट चलिए। मेरी बून को ... "

उसकी रूआंसी आवाज सुनकर मुझे आशंका हुई कि कुछ अनहोनी हो गई है और मेरा दिल धक हो गया। जब वहां पहुंचा तो उसकी जाति के दो आदमी आए हुए थे।

उनमें एक तो बुधली का आदमी था और दूसरा बुधली का फूफा। बात यह थी कि बुधली का ब्याह बाईस सौ में तय हुआ था। बारह सौ नकद चुका दिए गए थे और बाकी एक हजार का हिसाब हो जाए तब तक बुधली का आदमी ससुराल में रहकर काम करेगा, ऐसी बात हुई थी। लेकिन उस आदमी ने ऐसा नहीं किया। "रुपये चुकाकर बुधली को ले जाएंगे।" कहकर उसने बात निबटा ली थी। बुधली को वह आदमी पसंद नहीं था और वह आदमी एक साथ एक हजार का जुगाड़ नहीं कर पाया। इस बात को लेकर दो-चार बार झगड़े भी हो गए थे। बुधली ने तो ठान लिया था अब वह ससुराल जाएगी ही नहीं। रिवाज के अनुसार बारह सौ और जुर्माने से तीन सौ मिलाकर पंद्रह सौ रुपये चुकाकर वह नाता तोड़ लेगी। बुधली के आदमी को इस बात का पता चला तो वह भी ऐंठ में आ गया। अपना बैल लेकर वह ससुराल जा पहुंचा। उसके बैल की कीमत एक हजार रुपये पबनाई गई। वह बोला, "लो यह बैल और देर हुई इसके दो सौ रुपये ऊपर से और हमारी औरत हमें सौंप दो।"

पता देकर बुधली के बाप ने उन्हें यहां भेजा था। इस तरह का सौदा करने वाला बुधली का फूफा भी साथ में था। इसलिए बुधली को भेजना ही पड़ेगा। छगना और उसकी चाची आदि को उस धूर्त फूफा पर कोई विश्वास नहीं था। और बुधली की धाक से इन

सब को इतनी दूर भेज दिया था, उन्हें उसी क्षण ले जाने की बात करने वाले का भरोसा नहीं किया जा सकता था। संक्षेप में वे सब बुधली को भेजने के लिए राजी नहीं थे और बुधली तो जाना बिल्कुल ही नहीं चाह रही थी। और वे लोग तो उसे उसी वक्त ले जाने को अधीर थे। सारी टोली पर जिसका दबदबा चलता था वह बुधली इन सबसे दूर बैठे-बैठे धरती को कुरेद रही थी। बात का मर्म समझ में आने पर मैंने बीच-बचाव किया :

"देखो भई, आपके रिवाज के बारे में मैं कुछ नहीं जानता हूं। लेकिन घर से दूर आकर इस तरह का व्यवहार नहीं किया जाता है। आप अपने गांव जाइए। काम खत्म होने पर वे सब वहीं लौट जाएंगे। तब मामला निबटा लेना।"

मेरे कहने का उन दोनों पर तनिक भी असर नहीं हुआ। मुंह फुलाते हुए बुधली का आदमी बोला : "आये, सायेब, तू कुछ जाने नहीं और बीच में काहे मुंह चलावै? हम इसे ले जाएंगे और अब्बी हज ले जाएंगे।"

मैं बुधली के फूफा की ओर मुड़ा : "आप ही समझदार और सयाने लग रहे हैं। क्या यह जिद्द सही है?"

"होव्वे, सायेब। बिलकुल ठीक है। इस आदमी ने वेहवार (व्यवहार) निभा लिया। अब तो लड़की को जाना ही पड़ेगा।"

"मगर ऐसे एकाएक?"

"होव्वे। हमारे में ऐसा ही चलता है।"

"और मैं नहीं जाने दूं तो?"

"तू कौन होता है रोकनेवाला, हैं? बीच में आने का तुझे क्या हक है, बोल?" बुधली के आदमी की आंखों में गुस्सा तैर गया। इतनी दूर आकर मुझे चुनौती देने का उसका जोश मुझे जंच गया। पलभर मैंने सोचा कि यही जोश अगर उनके निर्बाध शोषण के सामने होता तो ... । लेकिन ऐसा सोचने का यह अवसर नहीं था। बुधली की रक्षा करना मेरा सबसे बड़ा कर्त्तव्य था।

मैंने ऊंची आवाज में कहा : "क्यों ऐसे मुंह-फट बोल रहा है, रे? सलाखों के पीछे जाना है क्या? ले जाने की बात तो दूर ही रह जाएगी और तेरी जो मरम्मत होगी कि फिर तू इसे ले जाने का नाम नहीं लेगा।"

संयोग से उसी वक्त सड़क पर से पुलिस के दो आदमी जा रहे थे। एक ने मुझे सलाम भरते हुए कहा : "क्या हुआ है, साब? कोई झगड़ा-फसाद है क्या?"

मैंने कहा : "नहीं। यह तो घर में ही निपट लेने वाली बात है। आप जाइए।"

उनके चले जाने के बाद मन ही मन मुझे भी वह डांट अच्छी नहीं लगी। लेकिन कोई चारा नहीं था। वे दोनों भी कुछ ढीले पड़ गए थे। साहस करके फूफा बोला :

"यह ठीक नई हो रहा है, साहब। बुधली नई जाएगी तो उसके बाप की बदनामी होगी।"

मैंने समझाया: "इस बात में कुछ शक पैदा होता है। बुधली अपने घर जाएगी,

वहां से उसे ले जाना। या फिर छगना सही बात का पता लगाकर इसके बाद आप उसे ले जाए।''

वे दोनों बड़बड़ाते हुए लौट गए और यहां इन लोगों के दिलों की धड़कन तेज हो गई। ''उनके गांव वालों की टोली यहां पास के गांव में ही है। रात में वहां से आकर बुधली को घसीटकर ले जाएंगे तब हम क्या करेंगे?''

मैंने विश्वास दिलायाः ''आप लोग घबराएं नहीं। आज की रात मैं यहां पासवाले मकान में ही सो जाऊंगा। आप निश्चिंत रहिए।'' उस शाम उन्होंने खाना तो खाया, लेकिन उसमें निजानंद की छाया तक नहीं थी।

उसी रात निर्णय ले लिया गया : ''बुधली को गांव नहीं भेजा जा सकता। बीच रास्ते कहीं लोग उसे घसीटकर ले जाएंगे। बजाय इसके छगना ठीक से पता लगा आए।''

दूसरी सुबह छगना गया और माटा-माटा लौट भी आया। उसका मुंह लटका हुआ था।

''बात सही है, सायेब। बून को भेजना पड़ेगा।''

बुधली के बारे में जो मुझे जानने को मिला था वह वेदनापूर्ण था। आदमी बुधली के मन को भाता नहीं था। वह बिलकुल ही जाना नहीं चाहती थी। तीनों भाई-बहन की कमाई में से हर हफ्ता नब्बे रुपये बचाकर वह मेरे पास जमा रखती थी। ठेकेदार उसमें अपनी ओर से दस रुपये और डलवाता था। वह इसलिए कि बुधली को अपने मनचाहे आदमी के साथ ब्याह कर सके। छह आठ महीने तक काम चलेगा ऐसा संभव था। ठेकेदार का और मेरा भी विश्वास था कि जो रकम कम पड़ जाएगी वह उसे मिल जाएगी और अपनी जिंदगी की यंत्रणाओं से छुटकारा पा लेगी। लेकिन यह आदमी अपनी दौड़ में आगे निकल चुका था। बाप ने बैल को स्वीकार लिया था। अब बेटी उसके सामने एक हरफ भी नहीं बोल सकती थी—भले ही उसे जिंदगी भर मन ही मन जलते रहना पड़े।

छगन के लौटने के पांचवे दिन ही वे लोग फिर आ धमके। इस बार पांच आदमी थे। हम असहाय थे। मानो अपनी ही बेटी को ससुराल भेजना हो, उसी भाव से मेरी पत्नी बुधली के लिए एक, सुहानी ओढ़नी लाई थी। कोई भी व्यवहार निभाए बिना ये लोग बुधली को लेकर चले गए। आंसू भरी आंखों से उसने निराश होकर क़दम उठा रही बुधली के सिर पर हाथ रखते हुए पांच रुपये और ओढ़नी उसके हाथ में रखे तो हम अकबका गए।

बुधली के आदमी ने ओढ़नी लेकर मेरी ओर फेकते हुए कहा : ''ओढ़ाना उसे.... ।'' और मैं देखता ही रह गया। उस जोशीले मेमान की एक बतोये के प्रहार से सान ठिकाने लाने वाली और चाहे तो कइयों को दिनदहाड़े नारे दिखा दे, ऐसी बुधली अब एक हांके जा रहे पशु की तरह नजर झुकाए उन लोगों के पीछे जा रही थी।

मकान का धाबा बन जाए, उस दिन तू जरूर आना। यह आग्रह और आशा दोनों व्यर्थ। आज भी धाबे पर जब टहलता हूं तो बुधली की निरीहता का स्मरण हो आता है और कलेजे में जैसे कुछ कचोटने लगता है। □

मूल गुजराती से सरला जगमोहन द्वारा अनूदित

ज्ञान और कला की अधिष्ठात्री सरस्वती

डॉ. वेदज्ञ आर्य

भारतीय संस्कृति में सरस्वती की अर्चना और आराधना वैदिक युग से ही चली आ रही है। देवी सरस्वती के साथ भारतीय जीवन के विविध संदर्भ और आयाम जुड़े हुए हैं। बालक के अक्षर-बोध से लेकर भौतिक विज्ञान एवं आध्यात्मिक ज्ञान तक, शिशु की तोतली बोली से लेकर मानव को आत्मविभोर कर देने वाले मधुर संगीत-गायन तक, अंगुलियों की टेढ़ी-मेढ़ी लकीरों से लेकर चित्ररेखाओं में रंग-रूप के निखरने तक, पैरों की थिरकन से लेकर नृत्य की अनेक मुद्राओं तक, मिट्टी के खिलौनों से लेकर कठपुतलियों और प्रस्तर की भव्य प्रतिमाओं के निर्माण तक सरस्वती की व्यापकता अनवरत रूप से बनी रहती है। ज्ञान-विज्ञान एवं ललित कलाओं का उदय मनुष्य की रिक्तता एवं अपूर्णता को दूर करने के लिए हुआ है, इसके साथ ही व्यक्ति को सदा सृजनशील और क्रियाशील बनाए रखने के लिए हुआ है। विविध कलाओं की सुंदर अभिव्यक्तियां जीवन में माधुर्य की सृष्टि करती हैं। माधुर्य और सौंदर्य के अभाव में जीवन की संभावना नहीं है। सुंदरता और मधुरता के समन्वय से मनुष्य को आनंद की अनुभूति होती है। आनंद का मूल स्रोत है—ज्ञान और कला। धन-ऐश्वर्य से शरीर और मन को सुख प्राप्त हो सकता है और इस सुख के लिए लक्ष्मी की उपासना की जाती है, परंतु आत्मा का आनंद ज्ञान की उपलब्धि में है। प्राचीन भारतीय मनीषियों ने आनंद की उपलब्धि को जीवन का चरम लक्ष्य माना है। संभवतः इसीलिए ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती की आराधना चिरंतन काल से चली आ रही है।

सरस्वती पूजन के लिह ऋतुराज वसंत को निश्चित कर लिया गया है और शुभ दिवस के रूप में माघशुक्ल पंचमी को। अब यह दिन वसंतपंचमी के नाम से ही अधिक प्रचलित है और इसे सांस्कृतिक समारोह एवं आनंदोत्सव के रूप में मनाया जाता है। इस अवसर पर सरस्वती-पूजन के अतिरिक्त प्रीतिभोज, नृत्य, नाटक, संगीत, कवि-सम्मेलन आदि का भी आयोजन किया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अति प्राचीन काल में वसंत ऋतु का आगमन माघ शुक्ल पंचमी के दिन होता रहा होगा। आधुनिक मौसम-विज्ञान के अनुसार इस ऋतु का आगमन चैत्र और वैशाख मास के अंतर्गत माना जाता है। परंतु, माघ शुक्ल पंचमी के दिन वसंतोत्सव मनाए जाने का एक प्रामाणिक संकेत यह मिलता है कि इस अवसर पर भारतीय महिलाएं पीत वस्त्र धारण करती हैं और इसे वे सौभाग्य का प्रतीक मानती हैं। इसे प्रतीक माना जाये या तथ्य? क्योंकि लगभग इसी कालावधि में धरती माता भी दूर-दूर तक खेतों में खिले हुए सरसों के फूलों से पीत परिधान धारण करके सौभाग्यमण्डित

होती हैं। यह एक संयोग की बात है कि इसी समय विस्तृत भूखण्डों पर कपास के उज्ज्वलतम फूल भी श्वेतांबरा सरस्वती को साकार कर देते हैं। आज की विडंबना यह है कि महानगरों में दूर-दूर तक फैली हुई ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं के कारण न तो सरसों के पीले खेत दिखाई देते हैं और न ही कपास के श्वेत फूल। अब तो प्रदूषण के काले धुंए में लोगों का दम घुटता जा रहा है। फिर भी हमारी सारस्वत साधना जीवित है और वसंत पंचमी के महोत्सव से प्राप्त होने वाले उल्लास एवं आनंद से कोई भी भारतीय अपने आपको वंचित नहीं रख सकता। काले धुंए के पटल पर भी श्वेतांबरा देवी का सजीव अंकन करने का दायित्व आज के कलाकारों के लिए अधिक महत्वपूर्ण हो गया है।

सरस्वती का नदी रूप

ऋग्वेद में सरस्वती के तीन रूप उपलब्ध होते हैं—नदी रूप, मातृ रूप और देवी रूप। विदेशी विद्वानों की भी यही मान्यता है कि विश्व साहित्य के इतिहास में ऋग्वेद को सर्वप्रथम ग्रंथ होने का श्रेय प्राप्त है। इस वेद के लगभग नब्बे मंत्रों में अत्यंत वेगपूर्ण जलप्रवाह से युक्त सरस्वती नदी का विशाल रूप वर्णित है, जबकि वर्तमान काल की सर्वाधिक पवित्र एवं विस्तृत गंगा का उल्लेख उक्त वेद में केवल एक बार हुआ है। वैदिक एवं पौराणिक साहित्य में उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह स्वीकार किया जाता है कि भारतीय संस्कृति सरस्वती नदी के पावन तटों पर अंकुरित और पल्लवित हुई है। मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने जिन जीवन-मूल्यों एवं नैतिक मान्यताओं का निरूपण किया है उन्हें वैदिक संस्कृति अथवा सारस्वत सभ्यता के नाम से अभिहित किया जाता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद के मंत्रों का संकलन तथा सामवेद का सस्वर गायन इसी सरस्वती नदी की उर्वर भूमि पर गुंजायमान हुआ है। ऋग्वेद के अन्यतम मंत्र में गृत्समद, भार्गव और शौनक—इन तीनों ऋषियों ने एक स्वर में सरस्वती नदी की मातृ शक्तियों में श्रेष्ठतम माता के रूप में नदियों में उत्कृष्टतम नदी के रूप में और देवियों में पूज्यतम देवी के रूप में आराधना की है :

अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति!
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि।। ऋग्वेद 2, 41, 16

महर्षि वशिष्ठ ने अन्यतम ऋचा में कहा है कि सरस्वती नदी चिरकाल से अपने स्वच्छ जलप्रवाह के रूप में यश का श्वेत वस्त्र बुनती चली आ रही है, वह छह नदियों की माता सप्तमी नदी है। उसकी सुंदर सलिल धाराएं धरती को सींच कर कृषि के लिए उर्वर बनाती हैं और वह अपने प्रचुर जल से इतनी विशाल है कि अन्य छह नदियों की माता बन गई है :

आ यत् साकं यशसो वावशानाः
सरस्वती सप्तमी सिन्धुमाता

या सुष्वयन्त सुदुघाः सुधारा
अभि स्वेन पयसा पीप्यानाः ।। ऋग्वेद 7, 36, 6

इस मंत्र के अनुसार सरस्वती नदी को छह नदियों की माता होने का श्रेय प्राप्त था। इन छह नदियों के संबंध में अधिकांश विद्वानों का यही मत है कि पंजाब में प्रवाहित होने वाली पांच नदियां—सतलज, रावी, चिनाब, झेलम और व्यास हैं। छठी सिंधु नदी है, जिसके तट पर प्राचीन सिंधु सभ्यता का विकास हुआ था। सातवीं नदी सरस्वती स्वयं थी। इसका जलप्रवाह इतना प्रबल और तीव्र वेगवान होता था कि उससे पर्वतों की चोटियां फूल की पंखुड़ियों के समान टूट कर बह जाती थीं। जैसे कि इस मंत्र में कहा गया है :

इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारूजत्
सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः । ऋग्वेद 6, 61, 2

इस प्रकार सरस्वती नदी-संबंधी वर्णन ऋग्वेदीय मंत्रों में विस्तारपूर्वक हुआ है।

सरस्वती का मातृरूप

सरस्वती को मातृरूप में प्रतिष्ठित करके वैदिक ऋषियों ने जन्मभूमि और उसकी संतति के बीच वात्सल्य का अक्षय स्रोत बहा दिया है। भारतीय संस्कृति में मातृपद परम पावनता, पूर्ण क्षमता और संस्कार-चेतना का द्योतक है। महानदी-रुपा सरस्वती के सैकत तटों पर वैदिक ऋषियों ने अपना शैशव काल व्यतीत किया, किशोर और कुमारावस्थाओं में ज्ञान-विज्ञान की संपदाएं प्राप्त कीं, यौवन की उत्साहपूर्वक दशाओं में कृषिकर्म-संबंधी भौतिक कलाओं का विकास किया और प्रौढ़ावस्था में मंत्र-रहस्य का उद्घाटन करके चारों वेदों के मंत्रों को स्वरबद्ध किया। वह नदी निश्चित रूप से वैदिक ऋषियों की माता थी और उसके मधुर जल में दुग्धामृत का अस्वादन था। इसकी पीयूषधारा का पान करके ऋषियों की संतान श्रुतियों को कण्ठस्थ करने में सक्षम हुई। अथर्वन् ऋषि ने अन्यतम मंत्र में सरस्वती का वरदायिनी, प्रेरणादायिनी और पावमानी वेदमाता के रूप में स्तवन किया है :

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां
पावमानी, द्विजानाम्। अथर्ववेद 19, 71, 1

सरस्वती का देवीरूप

भारतीय संस्कृति की यह विशेषता रही है कि पुरातन काल से ही प्राकृतिक पदार्थों में उपयोगिता, धन-धान्य प्रदान करने की भावना और साधन क्षमता का अनुभव करके उनमें दिव्य शक्तियों का आरोप कर लिया गया है। वैदिक युग में यज्ञीय संस्कृति की प्रधानता रही है। अतः यज्ञानुष्ठानों के अवसर पर होताओं और अध्वर्युओं के द्वारा इड़ा, सरस्वती और भारती—इन तीन देवियों से कुश के पवित्र आसनों पर विराजमान होने के लिए प्रार्थना की जाती रही है :

तिस्रो देवी बर्हिरेदं सदन्त्विडा सरस्वती भारती।। यजुर्वेद 27, 19

वैदिक ऋषियों ने इड़ा में कृषिप्रधान भूमि की, सरस्वती में ज्ञान-विज्ञान की और भारती में वाणी एवं सकल कलाओं की अधिष्ठात्री देवियों के रूप में परिकल्पना की है। यजुर्वेद के एक अन्य मंत्र में इड़ा को वसु-देवताओं के साथ, सरस्वती को रूद्र-देवताओं के साथ और भारती को आदित्य-देवताओं के साथ आकर यज्ञ की रक्षा करने के लिए प्रार्थना की गई है। वस्तुतः ये तीनों देवियां क्रमशः कृषि, ज्ञान और शुद्ध उच्चारण की अदृश्य रूप से रक्षा करती रहती हैं। ऋग्वेद में देवी सरस्वती के संदर्भ में यह भी कहा गया है कि

वह संसार रूपी महासागर का ज्ञान कराती है और सब प्रकार की बुद्धियों का विकास करती है :

महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयती केतुना। धियो विश्वा विराजति।। ऋग्वेद 1, 3, 12

संस्कृत साहित्य में वसंत के समय कामदेव को बड़े समारोहपूर्वक पूजे जाने का उल्लेख मिलता है। इसे मदनोत्सव के नाम से अभिहित किया जाता है। महाकवि कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नाटक तथा हर्ष के 'रत्नावली' नाटक में कंदर्प देवता का मादक उत्सव जिस प्रकार रूपायित हुआ है उससे भारत के अतीत का स्वर्ण युग साकार हो उठता है। ऐसा प्रतीत होता है कि परवर्ती युगों में मदनोत्सव की अतिशय मादकता को परिसमाप्त करने के लिए ही भारतीय मनीषियों ने वसंत पंचमी के दिन सरस्वती के सात्विक रूप की और उसके विधिवत पूजन की परिकल्पना की है। देवी सरस्वती के अनेक नाम—वाक्, वाग्देवी, वाणी, वागीश्वरी, शारदा, भारती, वीणापाणि आदि उसकी उच्चतम कलात्मक पवित्रता को प्रतिपादित करते हैं। इसी प्रकार उसके दुग्ध-धवल परिधान, कुंद पुष्प एवं इंदु की उज्ज्वल आभा के समान श्वेत हार, श्वेत कमलासन, सफेद हंस का वाहन आदि विशिष्ट अवयव उसके सात्विक रूप को प्रतिष्ठित करते हैं।

भारतवर्ष के प्रायः सभी धार्मिक एवं सांस्कृतिक समारोह सरस्वती-वंदना से आरंभ होते हैं। बौद्ध एवं जैन धर्म में भी सरस्वती की व्यापक मान्यता है। बौद्धमत में सरस्वती के चार मुख्य रूप माने जाते हैं—वज्र सरस्वती, वज्रवीणा सरस्वती, वज्र-शारदा सरस्वती और महा सरस्वती। इनके अतिरिक्त आर्य सरस्वती, महामयूरी, वागीश्वरी और आर्य जांगुली के नाम से भी उसकी उपासना की जाती है। जैन धर्म में विशुद्ध ज्ञान एवं अनंत पवित्रता के प्रतीक के रूप में सरस्वती की आराधना की जाती है। श्वेतांबर जैन कार्तिक मास की शुक्ल पंचमी को ज्ञान पंचमी का नाम देकर सरस्वती देवी का समारोह संपन्न करते हैं। दिगंबर जैन ज्येष्ठ मास की शुक्ल पंचमी को श्रुतपंचमी का नाम देकर सरस्वती की आराधना करते हैं। इन समारोहों के अतिरिक्त जैनमत की दोनों शाखाओं में श्रुतदेवता-तप, श्रुतस्कंधव्रत, श्रुतज्ञानव्रत, श्रुतभक्ति आदि नामों से विशेष अवसरों पर सरस्वती की उपासना की जाती है।

इस प्रकार वैदिक कालीन नदीरूपा सरस्वती में देवत्व-भावना की परिकल्पना करके आद्या मातृशक्ति के पार्थिव-अपार्थिव, मूर्त-अमूर्त और रूपात्मक-भावात्मक तत्वों की सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक सत्ता का ही निरूपण किया गया है। संपूर्ण भारत में सरस्वती की सर्वाधिक लोकप्रिय देवी के रूप में उपासना की जाती है। दक्षिण भारत तथा पश्चिम बंगाल के परिवारों में आज भी बालकों को आरंभ में सरस्वती का अभ्यास कराया जाता है। उनकी धारणा है कि सरस्वती की आराधना से मूर्ख भी विद्वान बन सकता है। वेदों से लेकर आगम साहित्य तक सरस्वती देवी के जो विविध रूप एवं विशिष्ट चारित्रिक अवयवों का उल्लेख हुआ है उन सब में अनंत पवित्रता और ज्ञान की प्रेरणादायक शक्ति ही उभरकर आती है। विदेशों में भी ज्ञान एवं विद्या-देवी के रूप में सरस्वती की आराधना की जाती

है। अंग्रेजी-संस्कृति में 'मिनर्वा' के नाम से विद्यादेवी सरस्वती का ही उल्लेख किया जाता है। इसी प्रकार जापान में भी वाग्देवी सरस्वती को ही ज्ञान के क्षेत्र में प्रतिष्ठित करके उसकी उपासना की जाती है। लंदन के म्यूजियम में महाराज भोज के समय की वाग्देवी की प्रतिमा अब भी विराजमान है।

वस्तुतः उसके दिव्य रूप में समग्र लोकों को पवित्र करने की अपूर्वशक्ति सन्निहित है। इसीलिए वह लोकपावनी देवी कही जाती है। ज्ञान के पिपासुओं एवं कला के उपासकों के लिए यह मंत्र मननीय है :

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।
यज्ञं वष्टु धिया वसुः ।। ऋग्वेद 1, 3, 10

डॉ. वेदज्ञ आर्य : मातृभाषा तेलुगु। संस्कृत, विशारद, शास्त्री। आलोचना की पुस्तकें और कविताओं के संग्रह। अनेक राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों में शिरकत।
संपर्क : सेंट स्टीफंस कालेज परिसर, दिल्ली।

ताम्रपर्णी की सांस्कृतिक धारा

डॉ. अनंतराम मिश्र अनंत

वैसे तो अनेक छोटी-छोटी सदानीरा सरिताएं भारत भूमि में बहती हैं और अपने प्रवाह-पथ में आने वाली किसी नदी में आत्मविलयन कर देती हैं। परंतु दक्षिण भारत की लघुगंगा ताम्रपर्णी इसका अपवाद है। यह तमिलनाडु में मलय पर्वत की एक हजार, आठ सौ अड़तीस मीटर ऊंची पहाड़ी पोदिगाई, पोतिगै से उत्पन्न होती है तथा मात्र एक सौ बीस किलोमीटर तिरूनेलवल्ली जिला में बहकर सीधे मनार की खाड़ी दक्षिण समुद्र में गिरती है। चौबीस किलोमीटर तक पर्वतीय ढलान पर बहने के बाद ताम्रपर्णी कृषि के अभिषेचन में सहायक बनती है। भूगोलवेत्ताओं ने पश्चिमी घाट के पूर्वी ढलान से उद्गत तांब्रवारी नदी से इसकी एकता सिद्ध की है। पोदिगाई से अवतरण के समय यह कई दर्शनीय प्रपातों का निर्माण करती है, जिनमें 'कल्याणतीर्थ' प्रपात नब्बे मीटर ऊंचा एवं सर्वाधिक विशाल है। 'बाणतीर्थ' 'अगस्त्य' और 'पापनाशम्' प्रपात भी ताम्रपर्णी के प्रचण्ड प्रवाह के परिचायक हैं।

पेयारू, पांबारू, उल्लारू, कारियारू, चेर्रवैयारू, मणिमुत्तारू, बराह नदी, करुणा, चित्रा, कयत्तारू इत्यादि ताम्रपर्णी की सहायक नदियां हैं। उसके तटों पर अनेक ऐतिहासिक गांव, कस्बा, ताल्लुका, एवं शहर अवस्थित हैं। वीर भूमि तिनवल्ली का इतिहास इसी के किनारे विकसित हुआ है। ताम्रपर्णी के निकट 'कडयम' नामक गांव में श्री चेल्लम अय्यर की सप्तवर्षीया पुत्री 'चेल्लमाल' के साथ सन् 1897 ई. में राष्ट्रकवि सुब्रहमण्यम भारती का विवाह संपन्न हुआ था। कविवर भारती की ओजोमयी भारती आज भी मानो ताम्रपर्णी की लहरों को अनुगुंजित कर रही है। विभिन्न नदी-संगमों, तीर्थों तथा देवालयों ने उसकी पार्श्वभूमि को जन-श्रद्धा का केंद्र बनाया है।

'ताम्रपर्णी' शब्द बावली या छोटे और पक्के तड़ाग के अर्थ में प्रयुक्त मिलता है। संभव है कि बड़ी नदियों की अपेक्षा लघु आकार होने के कारण इस नदी को ताम्रपर्णी नाम दिया गया हो। तांबे जैसा रंग होने के कारण इसको 'ताम्रवर्णी' भी कहा जाता है। तमिल भाषा का 'पोरूणै' शब्द इसी अर्थ का वाचक है, जो तमिल-साहित्य में इसी नदी के लिए व्यवहृत है। यह भी मान्यता है कि इसके जल में तांबा मिलता है इसलिए इसे ताम्रपर्णी कहते हैं। इसी दृष्टि से ताम्रवती, ताम्रमयी, ताम्रपर्णिका और ताम्रा तथा मलयाचल से उद्गम होने के कारण मलयाद्रिसुता, मलयनंदिनी, मलयजा, मलयाद्रिकुमारी एवं मलयादिनंदिनी और अगस्त्य के द्वारा प्रवाहित किये जाने के कारण कुंभजनंदिनी, कुंभजकन्या, कुंभजपुत्री तथा शंख-मोती प्रदान करने की प्रसिद्धि वश शंखदा, कंबुदा एवं मौक्तिका नामों से भी ताम्रपर्णी को संबोधित किया जा सकता है।

भारत की विभिन्न पर्वत-श्रृंखलाएं, मानो शिव की सुविस्तृत जटाएं हैं और उनसे उद्गम पाने वाली सरिताएं गंगा के ही विविध रूप हैं। देश की नैसर्गिक छटाओं एवं

भौगोलिक छवियों को पुराणकारों ने बड़े ही प्रतीकात्मक रहस्यमय तथा कवित्वपूर्ण ढंग से मिथकबद्ध किया है। शायद ही कोई नदी ऐसी हो, जिसके साथ अतिमानवीय आख्यान किसी न किसी रूप में न जुड़ा हो। इन दिव्य कथाओं से मुग्ध होकर, श्रद्धाप्रवण भारतीय जनता अंधविश्वासी, पुरोहित-पूजक, पाखण्ड-समर्थक एवं रूढ़िवादी भी बनी तथा जाने-अनजाने राष्ट्रीय और सांस्कृतिक एकता के सूत्र में भी आबद्ध हुई। अब पुराणों की चमत्कारवादी निर्वचनशैली अधिकांश रूप से अप्रासंगिक सिद्ध हो चुकी है, अतः पुराणाख्यानों को युगानुरूप बुद्धिसंगत ढंग से तथ्यधर्मी भावभूमि पर प्रस्तुत करना सर्वथा वरेण्य है, साथ ही यह भी ध्यान रखना है कि सहस्राब्दियों से जन-मन में प्रतिष्ठित भक्ति की भावना पर प्रहार न हो।

ताम्रपर्णी के अवतारक महर्षि अगस्त्य हैं। कथा है कि हिमालय पर शिव-पार्वती की विवाह-वेला में निखिल ब्रह्माण्ड के देव, ऋषि, मानवादि एकत्र हुए। दक्षिण भारत के ऋषि मुनि भी उमा-शंभु का परिणय देखने के लिए हिमाचल के अतिथि बने, परिणामतः दक्षिण प्रदेश हल्का होकर ऊपर उठ गया। इस स्थिति से चिंतित शिव ने अपने निकटस्थ महर्षि कुंभज को दक्षिण में जाने का आदेश इस आश्वासन के साथ दिया कि वे नवदंपति रूप में उन्हें मलयाचल पर दर्शन देंगे। प्रस्थान के समय घटयोनि की प्रार्थना पर शिव ने उनके कमण्डल में अपनी जटा खोलकर गंगा की एक लघु धारा भी आपूरित कर दी। अगस्त्य मार्ग में विंध्याचल तथा सहयाचल पर होते हुए दक्षिण भारत में आ गये और मलयाचल की पोतिगै पहाड़ी पर अपना आश्रम बनाकर रहने लगे। उनकी गुरूता से वहां की लघुता समाप्त हो गई। जन-जीवन ज्ञान-गरिमा के आलोक में आमज्जित हो उठा। कुछ समय के बाद नव विवाहित चंद्रशेखर ने पार्वती-सहित वहीं आकर उन्हें दर्शन दिये और कमण्डलबद्ध गंगा को जन-कल्याणार्थ प्रवाहित करने की आज्ञा दी। अगस्त्य के कमण्डल से परिमुक्त गंगा, पिघले तांबे की भांति समुन्नत गिरि-शिखर से पृथ्वी की ओर चल पड़ी तथा तीन धाराओं में विभक्त होकर, दिशा-दिशा में बहती हुई और विभिन्न प्रपात, तीर्थ एवं पवित्र संगमों का निर्माण करती हुई सिंधुदेव का कण्ठहार बन गयी।

भारतीय नदियों में वैराट्य के संदर्भ में गंगा और आकारिक लघुत्व के लिए ताम्रपर्णी उल्लेख्य है। ताम्रपर्णी के विषय में तुलसीदास की उक्ति "बड़ प्रभाव देखत लघु अहहीं" नितांत सटीक है। यह चंदनवनों के बीच होकर बहती है तथा शंख एवं मोती देने के लिए विख्यात है। विष्णुपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, वायुपुराण इत्यादि में भारत की पवित्र नदियों के साथ इसका सादर उल्लेख है तथा मुक्ता शंख प्रक्षेपण करने वाली बात की भी पुष्टि होती है। सम्राट अशोक के एक शिलालेख में भी इसकी चर्चा आयी है।

वाल्मीकि रामायण में दक्षिण दिशा में सीता की खोज करने के उद्देश्य से हनुमान को जो मार्ग-निर्देश दिया गया है, उसमें मलयाचल पर तेजस्वी अगस्त्य के दर्शन और उनकी आज्ञा लेकर ग्राहमयी, चंदनवनों द्वारा परिवेष्टित एवं प्रच्छन्न द्वीपशालिनी ताम्रपर्णी को तैर जाने का परामर्श है। जैसे कोई कांता युवती अपने कांत से मिलती है, वैसे ही ताम्रपर्णी

समुद्र का अवगाहन करती है—

> *तस्यासीनं नगस्याग्रे मलयस्य महौजसम्।*
> *दृक्ष्यथादित्य संकाशमगस्त्यमृषि सत्तमम्।।*
> *ततस्तेनाभ्यनु ज्ञातः प्रसन्नेन महात्मना।*
> *ताम्रपर्णीं ग्राहजुष्टां तरिष्यथ महानदीम्।।*
> *सा चन्दनवनैश्चितैः प्रच्छन्नद्वीपशालिनी।*
> *कान्तेव युवती कान्तं समुद्रमवगाहते।।*

(किष्किन्धा काण्ड, 41/16, 17, 18)

महाभारत के वनपर्वगत तीर्थयात्रा पर्व में धौम्य मुनि भारत के विभिन्न तीर्थों की महिमा का वर्णन करते समय युधिष्ठिर को ताम्रपर्णी की महिमा भी बतलाते हैं—'हे युधिष्ठिर! अब मैं उस ताम्रपर्णी का महत्व बतला रहा हूं, जिसके तट पर मोक्ष के इच्छुक देवता तपस्या करते हैं। हे भारत! दक्षिण में ताम्रपर्णी के साथ तीनों लोकों में विख्यात गोकर्ण तीर्थ है। यह प्रचुर जल से युक्त, पुण्यमय, कल्याणकारी एवं शुभ है। जो लोग अशुद्धात्मा हैं, उनके लिए यह गोपकर्ण-हृद परम दुर्लभ है। वहां वृक्ष-तृणादि से संपन्न, फलयुक्त, पवित्र देव-तुल्य पर्वत पर महर्षि अगस्त्य के शिष्य का आश्रम है। वहीं श्रीसंपन्न, मणिमय और कल्याणकारक वैदूर्य पर्वत है तथा बहुत से फल-मूल, जल से समृद्ध अगस्त्य का आश्रम है—

> *ताम्रपर्णी तु कौंतेय कीर्तयिष्यामि तां श्रृणु।*
> *यत्र देवैस्तपस्तप्तं महदिच्छद्भिराश्रमे।।*
> *शीत तोयो बहुजलः पुण्यस्तात शिवः शुभः।*
> *हृदः परम दुष्प्रापो मानुषैरकृतात्मभिः।।*
> *तत्र वृक्षतृणाद्यैश्च सम्पन्नः फलमूलवान्।*
> *आश्रमोऽगस्त्यशिष्यस्य पुण्यो देवसमो गिरिः।।*
> *वैदूर्यपर्वतस्तत्र श्रीमान् मणिमयः शिवः।*
> *अगस्त्याश्रमश्चैव बहुमूलफलोदकः।।*

(ती. या. प. 88/15, 16, 17, 18)

कालिदास के दिग्विजयी रघु जब दक्षिण में अपना विजय-अभियान लेकर पहुंचते हैं, तो वहां के पांड्य राजा दक्षिणोदधि से संबद्ध ताम्रपर्णी से प्राप्त मोतियों को अपने संचित यश के समान उनके चरणों पर अर्पित कर देते हैं—

> *ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासारं महोदधेः।*
> *ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव सञ्चितम्।।*

(रघुवंश, 4/50)

नैषधकार श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य की नायिका दमयंती के मुखोच्चारित वर्णाक्षरों की स्वच्छता-शुद्धता के लिए ताम्रपर्णी के तट पर उत्पन्न मोतियों का स्मरण किया है—

ताम्रपर्णीतटोत्पन्नैर्मौक्ति कैरिन्दु कुक्षिजैः ।
बद्धस्पर्धतरा वर्णाः प्रसन्नः स्वादवस्तवः ।।

(20/21)

राजशेखर ने काव्यमीमांसा के सप्तदश अध्याय 'देशकाल विभाग' में दक्षिणापथ की अनेक पुण्यसलिलाओं में ताम्रपर्णी को भी उल्लिखित किया है—"नर्मदा तापी गोदावरी कावेरी भैमरथीवेणाकृष्णवेणी वञ्जुरा तुंगभद्रा ताम्रपर्ण्युत्पलावती रावणगंगाद्या नद्यः"। मलयाचल के वर्णन में भी यायावरीय ने उसकी महिमा का उत्कीर्तन किया है जिसको मोतियों की उत्पादिका ताम्रपर्णी जैसी उत्तम नदी उपत्यका में रहकर अर्चित करती है, उस रत्नेश्वर एवं रत्नों के महानिधान मलय को कुंभज अगस्त्य पवित्र करते हैं—

यस्योत्तमां मौक्तिककामधेनुरूपयकामर्चति ताम्रपर्णी ।
रत्नेश्वरो रत्नमहानिधानो कुंभोद्भवं तं मलयं पुनाति ।।

इसी प्रकार कविवर धोयी-कल्पित कनकनगरी की गंधर्वकन्या कुवलयवती अपने प्रिय लक्ष्मणसेन के पास दूत पवन को भेजते समय पथ-परिचय में मलयादि के साथ ताम्रपर्णी और तत्तटस्थ उरगपुर का चित्रण करती है—'मलयाचल के परिसर में केवल दो कोस आगे बढ़ने पर तुम्हें पृथ्वी के आभूषण-स्वरूप पांड्यदेश के दर्शन होंगे। वहां ताम्रपर्णी के तट पर बसे हुए उस उरगपुर मे विचरण कर लेना, जो सुपाड़ी के घने वृक्षों से आच्छादित है—

श्रीखण्डाद्रेः परिसरमतिक्रम्य गव्यूतिमात्रम्
गन्तव्यं ते किमपि जगतीमण्डनं पाड्यदेशम् ।
तत्रख्यातं पुरमुरगमित्याख्यया ताम्रपर्ण्या-
स्तीरे मुग्धक्रमुकतरुभिर्बद्धरेखे भजेथाः ।।

(पवनदूत-8)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संस्कृत-साहित्य में इस नदी का महत्व प्रचुर रूप में विद्यमान है। आदिकवि वाल्मीकि ने ताम्रपर्णी को मगर-मच्छों से भरपूर, चंदनवनों से सुशोभित तथा छिपे हुए टापुओं वाली महानदी कहा, तो व्यास जी ने उसे मोक्षदायिनी नदी के रूप में देखा। कालिदास ने ताम्रपर्णी से प्राप्त धवलाभ मोतियों को यश के उपमान, श्रीहर्ष ने उन्हें वर्णोच्चारण की शुद्धता के सादृश्य, राजशेखर ने मोतियों के लिए कामधेनु और धोयी ने सुपाड़ियों के वृक्षयुक्त तटिनी के रूप में प्रस्तुत किया है। प्रायः सभी ने ताम्रपर्णी के साथ मलयाचल, अगस्त्य एवं मोतियों की चर्चा की है। इसके अतिरिक्त पुराणों में उसके कर्मकाण्डिक महात्म्य का निरूपण भी प्राप्त होता है। तमिल तथा हिंदी की प्रख्यात

लेखिका श्रीमती सरस्वती रामनाथ ने अपनी पुस्तक 'कावेरी' में ताम्रपर्णी के विषय में लिखा है—

"तमिल साहित्य में 'पोरूणै' का स्थान ऊंचा है। कविगणों ने अपने काव्यों में इसका मोहक वर्णन किया है—पौरूणै अर्थात् ताम्रवर्णी बड़ी वेगवती है। स्वभाव से चंचल और उछल-कूद मचाने वाली है। अपने दोनों तटों पर शिवालयों का दर्शन करती हुई चलती है। 'मुल्लै' प्रदेश की मादक मधु और दुग्धधारा को अपनी लहरियों में समेटती हुई, कस्तूरी और चंदन से महकते फूलों को बिखेरती हुई चलती है। पंचबाण रूपी सुगंधित फूलों को लहराती हुई हंसी पक्षियों से शोभित अपनी धारा को बड़ी मस्ती से बहाती शंखों को किनारों पर फेंकती हुई, फेन उगलती हुई वह बहती जायेगी। बाढ़ आ जाये, तो बड़ी उद्धत हो जाती है। कगार के वृक्षों को ढकेलती, किनारों को तोड़ती फुफकार उठेगी। इसका वर्णन सुनने वाले काँप उठेंगे। मुल्लै प्रदेश में अठखेलियाँ करती पोरूणै 'मरुदम्' प्रदेश में कृषकों के बजाये पम्बै, तुरही-जैसे वाद्यों का रस लेती हुई यौवन की देहली पर आ खड़ी होती है। कदली के तने-सी कोमल, पुष्ट, गोलाकार जांघे, नयी कोपल-सी लालिमा तन्वंगी लता-सी पतली कमर, हंसिनी-सी मदमस्त चाल लिये पोरूणै नवोढ़ा तरूणी का मादक तारूण्य लिये नेय्दल प्रदेश में प्रवेश करती है। उसका अंग-अंग यौवन से पूरित है। कोमल सुगंधित फूलमाला उसके गले में शोभा दे रही है। दुग्धफेन सा श्वेत दुकूल धारण किये, सुनहले आभूषणों से सुसज्जित वह अपने प्रियतम समुद्रराज की सुपुष्ट छाती से लिपट जाती है।"

(कावेरी की आत्मकथा, पृष्ठ-158)

उक्त उद्धरण से यह भी सुस्पष्ट है कि ताम्रपर्णी न केवल संस्कृत कवियों की लाड़िली नदी है, प्रत्युत दक्षिणी भाषाओं के काव्य में भी उसको पर्याप्त समादर मिला है। सरस्वती रामनाथ ने तमिल-काव्य के कुछ अंशों का ही हिंदी अनुवाद दिया है। ताम्रपर्णी विषयक दक्षिणी साहित्य की मूल कविताओं का सौंदर्य और भी मनोरम है। हिंदी काव्य में ऐसी महत्वपूर्ण संस्कृति संवाहिका नदी ताम्रपर्णी पर प्रबंधकाव्य तो क्या, मुक्तक काव्य तक में संदर्भित साहित्य में अनुशीलन के समय कोई मौलिक रचना मेरे दृष्टिपथ में नहीं आयी। जबकि राष्ट्र की भावात्मक समेकता एवं सांस्कृतिक गौरव-बोध की दृष्टि से हिंदी के कवियों द्वारा अन्य दक्षिणी गंगाओं के साथ ताम्रपर्णी पर भी काव्य लेखन अपेक्षित है। □

भारतेंदु की लोक चेतना

डॉ. विजय अग्रवाल

तत्कालीन परिवेश से अलग करके देखने पर भारतेंदु हरिश्चंद्र का साहित्य न तो चिंतन की दृष्टि से प्रौढ़ लगेगा और न ही अभिव्यक्ति की दृष्टि से परिष्कृत। लेकिन रचनाकार के समग्र, संतुलित एवं निरपेक्ष मूल्यांकन के लिए उसे तत्कालीन परिस्थितियों के संदर्भ में देखा जाना अनिवार्य है।

भारतेंदु हरिश्चंद्र का युग मूलतः प्रथम स्वतंत्रता आंदोलन से लेकर इस आंदोलन को यथार्थ रूप में परिणत करने के लिए गठित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के वर्ष तक का युग है। प्रथम स्वतंत्रता आंदोलन के समय भारतेंदु केवल सात वर्ष के थे। लेकिन उनमें जो प्रतिभा थी और उनका जो पारिवारिक परिवेश था, उसमें सात वर्ष की आयु में वे अपने आस-पास को अच्छी तरह समझ कर, उसे अपने अंदर समाकर अपने चिंतन का आधार बना रहे होंगे, इसमें कोई संदेह नहीं है।

पारिवारिक दृष्टि से वे एक ऐसे संपन्न व्यापारिक घराने की संतान थे, जिन पर उपनिवेशवादी सत्ता की विशेष कृपा थी। राजसी वैभव में पले भारतेंदु को तभी 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' का पद दिया गया था जब वे मात्र बीस वर्ष के थे और इतनी कम आयु में यह पद पाने वाले पहले भारतीय थे।

हालांकि भारतेंदु के पिता व्यापारी थे, किंतु साहित्य के प्रति उनमें विशेष अनुराग था और उन्होंने 30 से भी अधिक काव्य रचे। इतना ही नहीं, उनके पास एक बहुत अच्छा पुस्तकालय भी था।

ये सब वे तथ्य थे जो भारतेंदु को अपने परिवार से मिले।

राजाराममोहन राय के अभ्युदय से भारतीय समाज की चेतना में एक कुलबुलाहट पैदा होने लगी थी। लॉर्ड विलियम बेंटिक ने सती प्रथा पर रोक लगाकर भारतीयों की एक अमानवीय परंपरा को जबरदस्त चुनौती दी थी। लॉर्ड मैकाले की शिक्षा नीति द्वारा अंग्रेजी भाषा लोकप्रिय होने लगी थी। स्वतंत्रता आंदोलन के वर्ष में ही बंबई, मद्रास और कलकत्ता में विश्वविद्यालय खोले गए।

सन् 1851 में तार व्यवस्था का जाल फैला और 1854 में भारत में रेल की शुरूआत हुई। खासकर सन् 1857 के आंदोलन के बाद से जब सत्ता ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथों से निकल महारानी के हाथ में पहुंची तो भारतीय व्यवस्था में कुछ सकारात्मक परिवर्तन भी करने का दिखावा किया गया। कर्नल कूटले और हेनरी कॉटज ने नहर बनवाये और इनका चमत्कारपूर्ण प्रभाव यह हुआ कि इन पर लोक गीत लिखे जाने लगे।

सन् 1857 में प्रेस एक्ट बनाकर भारतीयों की अभिव्यक्ति पर प्रतिबंध लगा दिया

गया और उसके करीब 19 वर्ष बाद सन् 1876 में वर्नाकुलर प्रेस एक्ट बनाकर भाषायी प्रकाशनों को शासन की गिरफ्त में ले लिया गया। यह बात अलग है कि बाद में सन् 1882 में लार्ड रिपन ने वर्नाकुलर प्रेस एक्ट को रद्द कर दिया और अगले ही वर्ष एक्ट को भी समाप्त कर दिया गया।

ब्रह्म समाज की स्थापना हो चुकी थी। सन् 1875 में आर्य समाज की भी स्थापना हुई और इसी वर्ष अलीगढ़ मे मोहम्डन एंगलो ओरियंटल कालेज शुरू हुआ। इसके अतिरिक्त भी समाज सुधारकों द्वारा पुनर्जागरण के प्रयास किए जा रहे थे।

हालांकि 1857 में आंदोलन हो चुका था, किंतु उस समय भी जनमत जैसी कोई बात नहीं थी। 26 जुलाई, 1876 को जो इंडियन एसोसिएशन नाम की राजनीतिक संस्था बनी थी, उसने अपने तीन मुख्य उद्देश्य बताए थे। ये उद्देश्य थे— (1) एक प्रबल जनमत तैयार करना (2) सामान्य राजनीतिक हितों के आधार पर एक संगठन बनाना एवं (3) हिंदू-मुस्लिम एकता स्थापित करना।

भारतेंदु हरिश्चंद्र के सही मूल्यांकन के लिए उपर्युक्त सारी परिस्थितियों को ध्यान में रखना अत्यंत आवश्यक है। ऊपर बताई गई परिस्थितियां वे है जिन्होंने भारतेंदु हरिश्चंद्र को संस्कार दिए, विचार दिए और जीवन का उद्देश्य दिया।

भारतेंदु हरिश्चंद्र की जीवन पद्धति और उनके पूर्ण साहित्य मे तीन बातें आधार रूप में दिखाई पड़ती है। ये बाते है— (क) अपने आभिजात्य एवं सामंतवादी संस्कारों से अपने को उबार कर जन संस्कृति मे मिलना (ख) सत्ता और परंपरा के परिवेश में रह कर सत्ता और परंपरा से टकराना तथा (ग) अपनी भाषा को स्वतंत्र चिंतन का आधार बनाना। वैसे तो आज के संदर्भ में ये बाते बहुत सामान्य सी मालूम पड़ेंगी, लेकिन यदि उस समय की परिस्थितियों के संदर्भ मे सोचा जाए तो शायद आश्चर्यजनक रूप से महत्वपूर्ण मालूम पड़ेंगी।

भारतेंदु हरिश्चंद्र का साहित्य मूलतः दो कारणों से न केवल हिंदी साहित्य के इतिहास मे महत्वपूर्ण स्थान रखता है बल्कि आधुनिक दृष्टि से भी अत्यंत सामयिक है। पहला तो यह कि पश्चिमी मूल्यों की ओर तेजी से आकर्षित हो रहे समाज के बीच उन्होंने जातीय संवेदनाओं को पहुंचाया, उसे अपनी अनुभूति का आधार बनाया और उसे जनपदीय मुहावरे में ही अभिव्यक्ति दी। दूसरा यह कि साहित्य को रीतिकालीन मनोविनोद से निकाल कर उसे जनजीवन से जोड़ा और 'लोकरंजनकारी' के स्थान पर 'लोक मंगलकारी' के पद पर प्रतिष्ठित किया। यदि इन दो तत्वों को आज के साहित्यिक विकास में फैलाकर देखा जाये, तो इनकी झलमलाहट कहीं-न-कहीं दिखाई पड़ ही जाएगी।

छायावादी साहित्य मे ऐतिहासिक संस्कृति का जो गौरवगान मिलता है उसके बीज भारतेंदु हरिश्चंद्र के साहित्य में हैं। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर लगे प्रतिबंधों के बीच उन्होंने रामायण और महाभारत की ही कथाओं के माध्यम से अपने युग की आकांक्षा को अभिव्यक्त किया था। इसके बाद निराला से लेकर बाद में जो प्रगतिशील साहित्य आया,

उसके मूल भावों को भारतेंदु ने बहुत पहले ही अभिव्यक्ति दे दी थी। अकाल से ग्रस्त जनता, टैक्स से पीड़ित लोग, महामारी और दमन जैसी दयनीय परिस्थितियां तथा उससे संकटग्रस्त लोगों की मनःस्थिति का आकलन भारतेंदु के साहित्य में काफी पहले मिल जाता है।

लेकिन यदि छायावादी और प्रगतिशील साहित्य दीर्घजीवी नहीं हो सके तो इसका बहुत कुछ कारण इस तथ्य में मालूम पड़ता है कि उन्होंने भारतेंदु हरिश्चंद्र को बौद्धिकता के स्तर पर तो स्वीकार किया, किंतु संवेदना के स्तर पर नहीं। छायावादी साहित्य सांस्कृतिक पुनर्जागरण का जयघोष भले ही करता हो, किंतु उसके संस्कार और संवेदनाएं सामान्य जन की न होकर आभिजात्य जन की हैं। ठीक इसी प्रकार हालांकि प्रगतिशील साहित्य ने सामान्य जन की स्थितियों को अपना विषय वस्तु बनाया, लेकिन दुर्भाग्यवश उसकी यह विषयवस्तु बौद्धिकता के आधार पर तो सामने आई, किंतु उसमें संवेदना का वह ताप नहीं था, जो भारतेंदु में मिलता है। केवल इतना ही नहीं बल्कि इससे साहित्य ने अभिव्यक्ति की जो प्रणाली स्वीकार की, उसमें जो जनपदीय शब्द या मुहावरे प्रयोग किए गए, वे रचना का अनिवार्य और अंदरूनी अंश नहीं बन पाए, बल्कि उसके स्थान पर उनकी स्थिति पैबंद जैसी ही रही। कविताओं में तो यह स्थिति सबसे अधिक रही। जबकि इसके विपरीत भारतेंदु का साहित्य संवेदना और अभिव्यक्ति दोनों ही स्तरों पर जन भावना, जन संस्कार और जन भाषा को लेकर चलता है। इसलिए भारतेंदु भारतीय अस्मिता के सच्चे और संपूर्ण प्रतिनिधि मालूम पड़ते हैं। यहां तक कहा जा सकता है कि वे जब हिंदी की बात करते हैं तो वस्तुतः वे हिंदी के माध्यम से भारतीय अस्मिता की ही बात करते हैं।

भारतेंदु की दृष्टि से भारतीय अस्मिता की पहचान केवल जन साहित्य और जन भाषा तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि उसका फैलाव राजनीतिक स्तर पर भी था। देश की स्वतंत्रता से जुड़ी उनकी चिंता या कि स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग का आह्वान आदि राजनीतिक विचारधारा सीधे-सीधे भारतीय अस्मिता से ही जुड़ जाती है। सन् 1874 के 'कविवचनसुधा' में उन्होंने जो प्रतिज्ञा पत्र प्रकाशित कराया था, वह इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। यहां महत्वपूर्ण बात यह है कि स्वदेशी वस्तु का व्यापक प्रचार और प्रसार महात्मा गांधी के राजनीति में आने के बाद ही हुआ था, किंतु भारतेंदु ने उसकी अभिव्यक्ति गांधी के करीब 50 वर्ष पूर्व ही कर दी थी। 'कविवचनसुधा' में सन् 1874 में उन्होंने प्रकाशित कराया था कि—"हम लोग सर्वांतरयामी सब स्थल से वर्तमान सर्वद्रष्टा और नित्य सत्य परमेश्वर को साक्षी देकर यह नियम मानते हैं, और लिखते हैं कि हम लोग आज के दिन से कोई बिलायती कपड़ा न पहनेंगे और जो कपड़ा कि पहले से मोल ले चुके हैं और आज की मिति तक हमारे पास है, उनको तो जीर्ण हो जाने तक काम में लावेंगे पर नवीन मोल लेकर किसी भांति का भी न पहिरेंगे। हिंदुस्तान ही का बना कपड़ा पहिरेंगे। हम आशा रखते हैं कि इसको बहुत ही क्या प्रायः सब लोग स्वीकार करेंगे और अपना नाम इस श्रेणी में होने के लिए श्रीयुत बाबू हरिश्चंद्र को अपनी मनीषा प्रकाशित करेंगे और सब देश-हितैषी इस

उपाय की वृद्धि में अवश्य उद्योग करेंगे।''

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के बाद यह बात बड़े जोर से उठाई गई कि भारतीय अर्थव्यवस्था का उपनिवेशवादी सत्ता किस प्रकार शोषण कर रही है और किस प्रकार देश का सारा धन ब्रिटेन जा रहा है। इसको भारतेंदु हरिश्चंद्र ने बहुत पहले यह कह कर अभिव्यक्ति दी थी कि—''पै धन विदेश चलि जात, यह अति ख्वारी''। यह बात कम ऐतिहासिक नहीं है कि 1876 में जिस वर्ष इंडियन एसोसिएशन नाम की राजनीतिक संस्था बनी थी उसी वर्ष भारतेंदु हरिश्चंद्र अपनी कृति 'भारत दुर्दशा' लिख चुके थे। स्वतंत्रता का शंखनाद फूंकने वाला 'आनंद मठ' उपन्यास इसके 6 वर्ष बाद सन् 1882 में आया था।

भारतेंदु के साहित्य की सबसे महत्वपूर्ण और केंद्रीय विशेषता है—उसका जनपदीय होना। और यह क्षमता उन्होंने बनारस के अपने भवन में बैठकर प्राप्त नहीं की थी बल्कि जगह-जगह घूम कर वे लोगों से मिले थे और उनकी दुर्दशा-हर्षोल्लास को अपनी अनुभूति का माध्यम बनाया था। विभिन्न सांस्कृतिक अवसरों पर शामिल होना, नाटकों में भाग लेना तथा मंडली जमाना उनके शौक थे। इसीलिए उनकी संवेदना इनकी अपनी संवेदनाओं में रच बस गई थी। उनकी यह दृढ़ इच्छा थी कि लोक साहित्य के माध्यम से भारतीय समाज की चेतना में आमूल परिवर्तन किया जा सकता है। उन्होंने अपने निबंध 'जातीय संगीत' में बड़े स्पष्ट रूप से लिखा है कि—''भारतवर्ष की उन्नति के जो अनेक उपाय महात्मागण आजकल सोच रहे हैं, उनमें एक और उपाय भी होने की आवश्यकता है। उस विषय के बड़े-बड़े लेख और काव्य प्रकाश होते हैं, किंतु वे जन साधारण को दृष्टिगोचर नहीं होते। इसके हेतु मैंने सोचा है कि जातीय संगीत की छोटी-छोटी पुस्तकें बनें और वे सारे देश, गांव-गांव में साधारण लोगों में प्रचार की जाएं। सब लोग जानते हैं कि जो बात साधारण लोगों में फैलेगी, उसी का प्रचार सार्वदेशिक होगा और यह भी विदित है कि जितना ग्राम गीत शीघ्र फैलते हैं कि जितना काव्य को संगीत द्वारा सुनकर चित्त पर प्रभाव होता है उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता। इससे साधारण लोगों के चित्त पर भी इन बातों का अंकुर लगाने को इस प्रकार से जो संगीत फैलाया जाए तो बहुत कुछ संस्कार बदल जाने की आशा है। इसी हेतु मेरी इच्छा है कि मैं ऐसे गीतों.का संग्रह करूं और उनको छोटी-छोटी पुस्तकों में मुद्रित करूं। इस विषय में मैं, जिनको कुछ भी रचना शक्ति है, उनसे सहायता चाहता हूं कि वे लोग भी इस विषय पर गीत या छंद बनाकर स्वतंत्र प्रकाश करें। या मेरे पास भेज दें, मैं उनको प्रकाश करूंगा और सब लोग अपनी मंडली में गाने वालों को यह पुस्तकें दें।'' और इसमें कोई दो मत नहीं कि भारतेंदु हरिश्चंद्र ने अपना सब कुछ इसी में झोंक दिया।

भारतेंदु के साहित्य के जो दो मुख्य सजीव तत्व हैं वे हैं हास्य और व्यंग्य। निःसंदेह रूप से अंग्रेजी सत्ता पर सीधे-सीधे आघात न कर पा सकने की मजबूरी के कारण ही उन्हें हास्य और व्यंग्य का आश्रय लेना पड़ा होगा। लेकिन एक कारण यह भी रहा होगा कि इसके द्वारा वे जन-जन तक पहुंच सकेंगे। उनका नाटक 'अंधेर नगरी' अपनी विषय-वस्तु

तथा शैली के कारण आज भी लोगों के लिए उतना ही रोचक और सामयिक है जितना करीब सौ वर्ष पूर्व रहा होगा। यह 'अंधेर नगरी चौपट राजा' उस समय ब्रिटिश शासन का प्रतीक था। इसमें एक बहुत ही लोकप्रिय गीत है—

चना हाकिम सब जो खाते
सब पर दूना टिकस लगाते
चूरन साहब लोग जो खाता
सारा हिंद हजम कर जाता।

'चना चूर गरम' का यह गीत इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि आज भी पूरी ताजगी के साथ यह जन कण्ठ में उपस्थित है। इसी प्रकार जन-जन तक पहुंचने की तीव्र आकांक्षा के वशीभूत होकर भारतेंदु ने रामचरित मानस की अर्धाली की ध्वनि पद्धति को भी स्वीकार किया। उन्होंने रामचरित मानस की लोकप्रियता देख रखी थी। हर क्षेत्र में कुछ नया करने की इच्छा शक्ति से प्रेरित होने के बावजूद उन्होंने रामचरित मानस की पद्धति को अपनाने में परहेज नहीं किया। 'भारत दुर्दशा' में वे लिखते हैं—

महाराज इंद्रजीत सन जो कछु भाखा।
सो सब जनु पहिलही कर राखा।

भारतेंदु ने लावनी, मुकरी, मरसिया, कजरी, होली आदि ग्राम्य गीतों को लेकर भी साहित्य के क्षेत्र में नए-नए प्रयोग किए। ग़ज़ल, लोक धुन और शेरो शायरी की तर्ज पर साहित्य लिखा गया। लोक परंपराएं, रीति-रिवाजों पर गीत लिखने मे वे जरा भी नहीं झिझके। विवाह गीत लिखते हुए भारतेंदु कहते हैं—

बना मेरा ब्याहन आया बे
बना मेरा सब मन भाया बे
बना मेरा छैल छबीला बे
बना मेरा रंग रंगीला बे

इसी प्रकार वे जीवन की जीवंतता से जुड़े चुलबुलेपन वाले गीत लिखते हुए कहते हैं—''नजरहा छैला रे नजर लगाए चला जाए'' या कि ''नशीली आंखों वाले सोये रहो अभी है बड़ी रात''।

सन् 1860 से 1880 के बीच दो भाषाविद् एफ.एच. ग्राऊज और ग्राह्म बेली ने हिंदी उर्दू के पक्ष विपक्ष में लिखकर भाषा के प्रश्न को एक सांप्रदायिक प्रश्न बना दिया था। दूसरी ओर भारतेंदु के सामने आगरा के राजा लक्ष्मणसिंह की संस्कृतनिष्ठ हिंदी तथा काशी के शिवप्रसाद सिंह सितारे हिंद की उर्दू फारसी युक्त भाषा थी। भारतेंदु ने भाषा के इस उलझन भरे माहौल में अपनी एक अलग प्रणाली विकसित की और उनकी यह प्रणाली थी जन भाषा की प्रणाली। निश्चित रूप से वे हिंदी के कट्टर समर्थक थे और 1873 के

'हरिश्चंद्र मैगजीन' में उन्होंने घोषणा की थी कि ''अब हिंदी नई चाल में ढली।'' ''निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल'', कहने वाले भारतेंदु हरिश्चंद्र ने भाषा की दृष्टि से उदारता दिखाने में परहेज नहीं किया। हालांकि यह नहीं कहा जा सकता कि वे उर्दू के समर्थक थे लेकिन जहां उन्हें लगा कि उर्दू की छंद पद्धति या शब्द के प्रयोग के द्वारा जन भावना को अच्छी तरह व्यक्त किया जा सकता है, वहां उन्होंने उससे परहेज नहीं किया। 'रसा' उपनाम से उन्होंने उर्दू परंपरा के अनुसार करीब 34 ग़ज़लें और कुछ तरजीबंद रूबाईयां लिखीं। इन रचनाओं में भी भारतीय भावना और रीति-रिवाजों को अभिव्यक्ति मिली है।

वस्तुतः भारतेंदु का मूल उद्देश्य अपने आभिजात्य संस्कारों तथा वर्ग चेतना से अपने-आपको मुक्त करके जन साधारण से घुल मिल जाना था। इसमें कोई दो मत नहीं कि उनका मन वैभव और समृद्धि के कारण उपजे बड़प्पन के दंभ से मुक्त हो चुका था। लावनी बाजों के बीच बैठकर लावनी दंगल में भाग लेना, चूरन बेचने वालों की मानसिकता से जुड़ कर चूरन लटका लिखना, इंद्र सभा की पैरोडी करते हुए बंदर सभा लिखना, परिहास पंचक में गड़रिए का गीत लिखना तथा लोक जीवन में घुल मिलकर 'होली और कजली' लिखना इस बात का प्रमाण है कि वे जन चेतना से बहुत गहरे स्तर पर जुड़े हुए थे। यह कहना गलत नहीं होगा कि विशेष रूप से काशी के जन-जीवन को अपने समय में भारतेंदु ने जितना अधिक प्रभावित किया, उतना और किसी ने भी नहीं। जन चेतना और जन रुचि का उन्हें इतना अधिक ध्यान रहता था कि उन्होंने रामलीला खेलने के लिए 'श्री राम लीला नाटक' भी लिखा। यह उन्होंने केवल इसलिए किया था, क्योंकि उन्होंने देखा था कि उस समय रामनगर में बराबर रामलीला होती थी और लोग अत्यंत चाव से उसे देखते थे।

लोक साहित्य के साथ-साथ लोक भाषा की जितनी विशेषताएं हो सकती हैं, वे सभी भारतेंदु के काव्य में बिना किसी प्रयास के आसानी से देखी जा सकती हैं। उनकी रचनाओं मे बोलचाल की तद्‌भव-देशज शब्दावली, मुहावरों-कहावतों की अधिकता, पदावली की तुकांत योजना, सार्थक-निरर्थक शब्दों की पुनरावृत्ति, ध्वनियों के स्थानीय उच्चारण आदि सभी विशेषताएं उनकी हिंदी मे लक्षित होती हैं। देशज और ग्रामीण प्रयोगों के लिए उनके नाटकों में ही 'बोदा', 'मटिया बुर्ज', 'धुआकस', 'चपराट', 'बुंबक', 'लखात', 'जोगिनियां', 'अंगिनिया', 'गुलबवा', 'हाहा ठीठी', 'अहा जनी', 'छमा करिया', 'बकवाद लगाना' जैसे प्रयोगों की कमी नहीं दिखाई देती। स्पष्ट है कि उनकी भाषा-चेतना उस सामाजिक प्रतिबद्धता का रूपांतरण थी, जिसका संबंध तत्कालीन समाज के सामूहिक एवं चतुर्दिक विकास के साथ था।

भारतेंदु के समक्ष नाटकों की तीन परंपराएं उपस्थित थीं— (1) आभिजात्य रंगमंच (2) पारसी रंगमंच तथा (3) लोक मंच। भारतेंदु ने इन तीनों रंगमंचों में समन्वय स्थापित करके आधुनिक रंगमंच की नींव रखी। उनके नाटक इस बात के प्रमाण हैं कि इस समन्वय के बाद भी उसमें लोकमंचीय तत्वों की प्रधानता है। यह कहना गलत नहीं होगा कि उनके नाटक नुक्कड़ नाटकों जैसे लगते हैं, जिनके माध्यम से वर्तमान सामयिक प्रश्नों को

अभिव्यक्ति दी जाती है। उन्होंने जन में प्रचलित मंच पहेली, पंचतंत्र और कचहरिया शैली का प्रयोग करते हुए अपने साहित्य को जनता तक पहुंचाया। अपने नाटकों में उन्होंने हास्य-व्यंग्य के प्रचुर प्रयोग के लिए गंभीर से गंभीर विषय को भी अकृत्रिम ढंग से प्रस्तुत करके उसे जनता के समझने योग्य बनाया और उससे सामयिक प्रश्नों को जोड़ कर सीधे-सीधे जन परिस्थितियों से जोड़ा।

भारतेंदु हिंदी पत्रकारिता के नेतृत्वकर्ता माने जाते हैं। उस समय की पत्रकारिता आज जैसी न तो आर्थिक दृष्टि से उपयोगी थी और न ही प्रभावशाली। आर्थिक हानि के बावजूद भारतेंदु ने जो समाचार पत्र और पत्रिकाएं प्रकाशित कीं, उसमें उनकी मूल धारणा यही थी कि इसके माध्यम से वे अधिक से अधिक लोगों तक आसानी से पहुंच सकें। यहां भी हमें उनकी जन से जुडने की भावना दिखाई पड़ती है। इन पत्र-पत्रिकाओं की विषय-वस्तु जन आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करने वाली तथा उनकी मानसिकता को मध्यकालीन अंधेरे से निकाल कर वर्तमान युग की रोशनी में खड़ा करने की थी।

भारतेंदु ने लोक जीवन के प्रति अपना समर्थन केवल अपने साहित्य के माध्यम से ही व्यक्त नहीं किया, बल्कि उन्होंने सीधे-सीधे उद्‌बोधन के द्वारा भी ऐसा किया। उनकी भारत की ग्रामीण जनता पर गहरी आस्था थी और इसे ही वे देश का मूल आधार समझते थे। अंग्रेजी पढ़े-लिखे तथाकथित सभ्य लोग उनकी आस्था के आधार नहीं बन सके। 'भारत दुर्दशा' में पढ़े-लिखे लोगों पर व्यंग्य करते हुए वे कहते हैं—"हा-हा-हा-- ! कुछ पढ़े लिखे लोग मिलकर देश सुधारना चाहते हैं। हा-हा-हा एक चने से भाड़ फोड़ेंगे।" इसमें 'एक चने' शब्द ऐसे पढ़े-लिखे लोगों की अल्पसंख्यकता की ओर संकेत करता है। इसी में आगे वे जनता को उद्‌बोधित करते हुए लिखते हैं—"तुम आप ही कमर कसो, आलस छोड़ो, कब तक अपने (को) जंगली हूश, मूर्ख, बोदे, डरपोकने पुकरवाओगे।" अपने एक अन्य निबंध में स्वदेश प्रेम तथा अपनी भाषा से प्रेम करने के लिए लोगों को उत्साहित करते हुए वे कहते हैं—"लड़कों को रोजगार दिलवाओ। विलायत भेजो। छोटेपन से मिहनत करने की आदत दलाओ। सौ सौ महलों के लाड़ प्यार दुनियां से बेखबर रहने की राह मत दिखलाओ।" ऐसे कथन यह स्पष्ट करते है कि भारतेंदु की आस्था सामान्य लोगों तथा लोक संस्कृति पर कितनी गहरी थी।

यह कहना गलत न होगा कि भारतेंदु हरिश्चंद्र का जीवन सामंती संस्कृति से जन संस्कृति की यात्रा था तथा उनका साहित्य जन सुलभ साहित्य विधाओं के आविष्कार और परिष्कार का साहित्य था। अपनी पहचान और संस्कार, स्वतंत्र अभिव्यक्ति, नवीन अर्थ का संप्रेषण तथा नया सामाजिक संगठन उनके आदर्श थे। उनका जीवन और साहित्य एक ही था। जीवन की कठिन और चुनौतीपूर्ण स्थितियों के बावजूद उनका साहित्य और साहित्य की भाषा 'हंसमुख' है। उन्होंने उस जन-जीवन को अपने साहित्य का आधार बनाया, जो जन-जीवन तात्कालीन वैज्ञानिक पद्धति से बेखबर घाघ और भडरी के कहावतों के सहारे खेती कर रहा था, लोकगीतों के सहारे श्रम कर रहा था और संतों की वाणियों के सहारे अपना आचरण संवार रहा था। □

कविता में लोक संस्कृति

अरविंद त्रिपाठी

समकालीन हिंदी कविता अगर इधर काफी समृद्ध हुई है, उसकी जमीन और अधिक उर्वर और विस्तीर्ण हुई है तो इसका कारण है कि कविता में उस जमीन की खोज गहराई में जाकर की गयी है—वह जमीन है लोक संस्कृति की पहचान की। संभवतः इसी पहचान के चलते आज की हिंदी कविता ज्यादा भारतीय यानी 'देसी' लगती है। यह कविता में नयी कविता के बुखार के उतरने का दौर है। जब कवि फैशन काव्य की संस्कृति को फेक कर अपनी जड़ों की खोज में निकल पड़े। यानी कविता अतीतोन्मुखी हुई है पर दिलचस्प बात यह है कि आज की कविता अतीत को दुहराती नहीं बल्कि अतीत की व्याख्या करती है। और उससे वह तत्व लेती है जो आज हमारी कविता और समाज के लिए उपयोगी हों। दूसरे शब्दों में आज का कवि परंपरा की दुहाई देने के बजाय परंपरा का मूल्यांकन करने के लिए कृत संकल्प है।

अगर आधुनिक हिंदी कविता के इतिहास को पलटा जाए तो निराला पहले ऐसे कवि थे, जिन्होंने कविता की परंपरा में प्रयोग किया। पर वे कविता और जीवन की परंपराओं से विमुख नहीं हुए। जब उन्होंने मैथिलीशरण गुप्त की कविता को प्रतिमान बनाने से इनकार किया तो इसका मतलब यह नहीं था कि वे परंपरा भंजक या मूर्ति भंजक कवि के रूप में प्रतिष्ठित होना चाहते थे, बल्कि उनकी कोशिश हिंदी कविता की परंपरा को विस्तार देने की थी। उन्होंने पहली बार कविता में प्रगतिशील जीवन मूल्यों की आधारशिला रखी। पर इसका मतलब यह नहीं है कि वे परंपरा प्रेमी नहीं थे। अगर ऐसा न होता तो उन्होंने जिस दौर में *तोड़ती पत्थर, कुकुरमुत्ता, वनवेला, गर्म पकौड़ी* जैसी प्रगतिशील चेतना की कविताएं लिखीं, उसी के बरक्स उन्होंने *तुलसीदास, शिवाजी के नाम पत्र* और *राम की शक्ति पूजा* जैसी मिथकीय चेतना की कविताएं लिखकर सिद्ध किया कि प्रगतिशील काव्य के लिए जरूरी है कि हम अपनी उन परंपराओं की खोज करें जो हमारे समाज और कविता के लिए जरूरी है। हिंदी कविता के संसार में निराला के इस महत्तम अवदान को नकार कर कविता में लोक संस्कृति की खोज एक असंभव बात होगी। क्योंकि निराला ही हिंदी के पहले, आधुनिक और प्रगतिशील चेतना के कवि थे, जिन्होंने लोक संस्कृति की अवधारणा को कविता की दुनिया में संभव किया। ध्यान देने की बात यह है कि कविता में लोक संस्कृति की खोज करते हुए निराला ने अतीतोन्मुखी होने के बजाय वर्तमानोन्मुखी और आगामी कल की दृष्टि का उपयोग किया। यह उपयोग कविता में लोक संस्कृति की प्रगतिशील दृष्टि का उपयोग था जो बाद में प्रगतिशील कविता के विराट संसार में प्रतिमान बना। आज हिंदी कविता में और प्रगतिशील कविता में जीवन दृष्टि का जो उद्‌भव हुआ है, उसमें निराला

की वही लोकोन्मुखी संस्कृति की चेतना का तार जुड़ा हुआ है, जो आपको नरेंद्र शर्मा, अंचल, शिवमंगल सिंह सुमन के गीतों से लेकर नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध, सर्वेश्वर, श्रीकांत वर्मा, केदारनाथ सिंह, देवेंद्र कुमार, सोमदत्त, अरूण कमल, जैसे बीसियों कवियों के संसार में एक सजग परंपरा के विकास के साथ मिल जाएगा।

गौर करने की बात है कि प्रयोगवाद और नयी कविता आंदोलन के दौर में लोक संस्कृति की पहचान एक सिरे से गायब है। अज्ञेय ने जब *तार सप्तक* का संपादन किया तो उसकी भूमिका लिखते हुए जिस तत्व की सबसे ज्यादा उपेक्षा की वह तत्व था लोक संस्कृति का। उसके बरक्स उन्होंने अभिजन समाज की व्याख्या करने वाली आभिजात्य संस्कृति की स्थापना की। फलतः यह आकस्मिक नहीं है कि नयी कविता के इतने बड़े आंदोलन में लोक संस्कृति की पहचान एक सिरे से गायब है। उसकी जगह मध्यवर्ग की शहराती संवेदना हावी है जिसका लोक जीवन से गहरा मतभेद है। उस दौर के बहुत कम या यो कहें उंगलियों पर गिने जाने वाले कवि थे, जिन्होंने लोक संस्कृति की संवेदना की याद आने पर वाणी दी। ऐसे कवियों में श्रीकांत वर्मा, सर्वेश्वर और केदारनाथ सिंह तथा रामदरश मिश्र का उल्लेख जरूरी है। श्रीकांत ने अगर मध्य प्रदेश के छत्तीसगढ़ के अंचल को कविता में वाणी दी तो इसकी तरफ सर्वेश्वर, केदार ने अपनी गीतधर्मी संवेदना से पूर्वी उत्तर के भोजपुरी भाषी समाज के सुख-दुख को वाणी दी। यहां श्रीकांत वर्मा की एक कविता का उल्लेख जरूरी होगा जिसमें कवि दिल्ली से ऊब चुका है। ऐसे में उसे घर की याद आती है। आज के बेघर संस्कृति के जमाने में आज से कोई पच्चीस साल पहले लिखी—श्रीकांत की यह कविता लोक जीवन की ओर लौटने का एक दुर्लभ साध्य है—"मैं अब हो गया हूं निढाल/अर्थहीन कार्यों में/नष्ट कर दिए/मैंने साल पर साल/न जाने कितने साल/और अब भी नहीं जान पाया/है कहां मेरा योग?/मैं अब हार जाना चाहता हूं/मैं पहाड़ों/जंगलों में खो जाना चाहता हूं/मैं महुए के/वन में/एक कंडे सा/सुलगना/गुंगु आना/धुधुवाना/चाहता हूं/मैं जीना चाहता हूं/और जीवन को भासमान/करना चाहता हूं/या फावड़ा उठाना/चाहता हूं। या गारे पर इंटे/बिठाना चाहता हूं/या पत्थरी नदी के एक ढोकेपर/जाकर/बैठ जाना/चाहता हूं।" इस कविता पर अगर विचार किया जाए तो कहा जा सकता है कि कवि में बेघर होने की जो पीड़ा है वह लोकजीवन के दवाब से पैदा हुई है।

श्रीकांत की अपेक्षा केदार में लोक संस्कृति की छवियां भोजपुरी समाज के जीवन की एक तरह से गाथा है। खासतौर से केदार के रोमानी संवेदना के गीत जो कभी पुराने नहीं पड़ते, में लोक जीवन की गहरी धड़कनें मौजूद हैं। "झरने लगे नीम के पत्ते/बढ़ने लगी उदासी मन की/प्राण आ गए दर्दीले दिन", *फागुन की शाम, रात पिया पिछुवारे पहरू ठनका किया* जैसे गीतों में पूर्वी उत्तर प्रदेश की मिट्टी का न केवल गहरा रंग है बल्कि वहां के सामान्य लोग-बाग के सुख-दुख का गहरा साक्ष्य भी है। देखा जाए तो नयी कविता के दौर में लोक संस्कृति की छवियां वहां मौजूद हैं जो कवि कस्बों गांवों और छोटे शहरों से आए। अगर गिरिजा कुमार माथुर की कविताओं में मध्यप्रदेश का मालवा बोलता है,

भवानी प्रसाद मिश्र की कविताओं मे सतपुड़ा के जंगल और बस्तर का आदिवासी जीवन झांकता है, तो इस के पीछे इन कवियों की कस्बाई संवेदना ही उत्तरदायी है न कि इन कवियों के नागर जीवन का नरक। यहां एक तथ्य यह भी उल्लेखनीय है कि ये सभी कवि गीतात्मक संवेदना के ही कवि हैं। केवल केदारनाथ सिंह जैसे इक्के दुक्के कवि हैं जिन्होंने 'जमीन पक रही है' संग्रह तक आते आते अपनी गीतात्मक संवेदना को तोड़कर कविता की जमीन को विस्तार दिया। वरना अपने गीतों से कविता में शक्ति अर्जित करने वाले रामदरश मिश्र की कविताओं में आज भी गीतात्मक संवेदना की अनुभूतियां जीवित हैं। गौर किया जाए तो कवियों की गीतात्मक संवेदना कविता में लोक जीवन से आयाहै। जो भारतीय लोक संस्कृति का आज भी जीवित साक्ष्य है।

पर इस तथ्य को छिपाने की कोई जरूरत नहीं है कि नयी कविता के केंद्र में लोक जीवन की कविता उसकी मूल प्रकृति नहीं है बल्कि नयी कविता का पूरा आत्म संघर्ष ही नागर संवेदना का विकास है जिसके प्रबल प्रवक्ता हैं अज्ञेय। हिंदी कविता के इस दौर में नागर संवेदना की जिद के कारण ही कविता सीमित मध्यवर्ग की वाणी बनी। जिसने लोक जीवन को जैसे हमेशा के लिए आजीवन कारावास दे दिया। फलतः कविता 'जन' से कटती चली गयी। आज हम विचार करें तो लोकजीवन की उपेक्षा ही वह सबसे बड़ा कारण है जिसने नयी कविता जैसे प्रभुत्वशाली आंदोलन को विफल कर दिया और कविता सिर्फ अकेले कंठ की पुकार बन सीमित रह गयी। जिसका खामियाजा आज तक की कविता भोगने के लिए अभिशप्त है।

अगर नयी कविता आंदोलन के समानांतर प्रगतिशील कविता आंदोलन की परख करें तो देखा जा सकता है कि निराला के साथ शुरु हुए प्रगतिशील कविता आंदोलन की जड़ों में लोक संस्कृति की गहरी स्मृतियां भरी पड़ी हैं। गौर करने की बात है कि जिस समय अज्ञेय सन् 1942 में तार सप्तक के प्रकाशन के साथ कविता में प्रयोगशीलता की गुहार लगाते हुए 'राहों का अन्वेषण' कर रहे थे, उस समय नागार्जुन त्रिलोचन और केदारनाथ अग्रवाल की वृहदत्रयी भारतीय जीवन के लोकतत्व को गहरे स्तर पर जांच परख रही थी। वह प्रगतिवाद के आंदोलन का दौर था। आज जब कविता में आंदोलनों की बाढ़ छंट चुकी है और अब वह समय भी आ गया है कि हम अपनी भारतीयता की कविता की गहराई से जांच करें। अगर विचार किया जाए तो प्रगतिशील कविता के इस कवि त्रयी ने कविता को कभी नारा नहीं बनाया, बल्कि जीवन को कविता से बराबर जोड़े रखने का साहसिक प्रयत्न किया। हालांकि हिंदी कविता के पांचवे दशक में त्रिलोचन ने *धरती जैसा* लोक संस्कृति का काव्य लिखकर लोक जीवन और लोक संस्कृति की चेतना को सामने लाने की कोशिश की। पर अजब विडंबना है कि *धरती के इस महान परंपरा के कवि का मूल्यांकन* सन् 80 के बाद आरंभ हुआ। यह दशा सिर्फ त्रिलोचन के साथ ही घटित नहीं हुई वरन इसके शिकार नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल दोनों हुए थे। साहित्य की दुनिया में इसे कहते हैं—मूल्यों की चरम उपेक्षा। एक दौर में नयी कविता (आंदोलन) भारतीय

कविता के बजाय अंतर्राष्ट्रीय कविता बनना चाहती थी जबकि सन् 80 के बाद की हिंदी कविता शुद्ध भारतीय कविता बनना चाहती है। हालांकि नयी कविता आंदोलन के 48 काव्यांदोलनों के अवसान के बाद सन् 67 में आए नक्सलवाड़ी आंदोलन के दौर ने हिंदी कविता की दिशा को अचानक मोड़ा। यह मोड़ था—कविता में भारतीय जीवन और उसके संघर्ष की खोज जो आज तक लगातार जारी है।

अब यह देखने की बात है कि इस कवित्रयी (नागार्जुन, केदार, त्रिलोचन) की कविताओं में लोक संस्कृति के वे कौन से पहलू हैं जो इनकी कविताओं को ज्यादा पठनीय, दिलचस्प और भारतीय बनाते हैं। विचार किया जाए तो 'लोक संस्कृति' वाली कविताको निर्मित करने वाले जो तत्व हैं उनमें पहली चीज तो है अपने परिवेश की समग्र पहचान का, दूसरा कविता की भाषा में वह देशज शब्दावली, जो लोक जीवन की जड़ों को शब्दों में खोलती है। असल में कविता में लोक संस्कृति की सबसे बड़ी गांठ ही है वह स्थानीय भाषा जो कविता को अपने समग्र परिवेश के साथ जीवंत और पारदर्शी बनाती है। यदि नागार्जुन, त्रिलोचन और केदार की कविताओं के संसार का जायजा लिया जाए तो तीनों की अंतरछवियां एक जैसी हैं, वही लोक जीवन के सुख-दुख को खोजने की धुन। वही धरती से प्रगाढ़ राग, छोटे-मोटे लोगों की जिंदगी में घुसकर उनकी चिंताएं हरने की वही एक कोशिश जो एक समान मिलेगी। पर तीनों का परिवेश अलग-अलग। अगर नागार्जुन की कविताओं में पूरे बिहार का संघर्षशील जीवन छाया हुआ है तो दूसरी तरफ त्रिलोचन में पूरा पूर्वी उत्तर प्रदेश का भोजपुरी समाज अपने सुख-दुख की दुर्निवार नियति से जूझता दिखायी पड़ता है। तीसरी तरफ केदार बाबू हैं जिनकी कविताओं में बांदा के साथ-साथ पूरा पछाह-उत्तर की धरती की कड़ियल छवियां बोलती हैं। अगर इन कवियों की कविताओं के आधार पर उत्तर भारत का मानचित्र बनाया जाए तो कविता का यह मानचित्र देश के भौगोलिक मानचित्र की अपेक्षा ज्यादा विश्वसनीय लगेगा। खास तौर से नागार्जुन की कविताओं का अगर समाजशास्त्रीय, विधि से विश्लेषण किया जाए तो वर्तमान बिहार की गरीबी, उसकी राजनीति, उसका अर्थशास्त्र सब कुछ प्रामाणिक रूप से तैयार हो सकता है।

नागार्जुन की कविताओं की आज जो सबसे बड़ी ताकत है जो आज की व्यवस्था को कठिन चुनौती दे सकती है वह है लोक शक्ति की पहचान। शायद उसी लोकशक्ति की पहचान ने उन्हें इतना जनप्रिय और हिंदी कविता का दूसरा कबीर बनाया है। नागार्जुन की लोक संवेदना की कविताओं की सबसे बड़ी पूंजी है—रागचेतना। यह राग चेतना ही है जो कवि को जन-मन से गहरे स्तर पर जोड़ती है। नामवर सिंह ने इसीलिए नागार्जुन को स्वाधीन भारत का प्रतिनिधि जन कवि कहा है। तरल आवेगों वाला अति भावुक हृदय धर्मी जन कवि। नामवर सिंह की टिप्पणी है 'एहसास उन्हें जन कवि होने का भी है और जन कवि होने की जिम्मेदारी का भी'। स्वयं नागाजुन ने इस तथ्य को स्वीकार भी किया है—*जनता मुझसे पूछ रही है/क्या बतलाऊं/*जनकवि हूं मैं साफ कहूंगा क्यों हकलाऊं?/श्रमिकों पर क्यों चलने दूं बंदूक 'तुम्हारी' देखा जाए तो नागार्जुन लोकजीवन में सामंतवाद के घोर विरोधी

हैं। वे मानते हैं कि कल का सामंतवाद आज की वह क्रूर व्यवस्था है जिससे भारतीय जनता परेशान है। भारतीय लोक जीवन में वे इसीलिए किसान और मजदूर वर्ग के रहनुमा हैं। नागार्जुन ने उत्तर भारत के भारतीय समाज के लोक जीवन में गरीबी और अभाव का जितना सघन सजीव और निर्मम वर्णन किया है वह विश्व कविता में भी विरल है। सामंती व्यवस्था से आक्रांत एक गरीब के जीवन की तस्वीर देखिए—*फटी दरी पर बैठा है चिर रोगी बेटा/राशन के चावल से कंकड़ बीन रही पत्नी बेचारी/गर्भभार से अलस शिथिल है अंग-अंग/मुंह पर उसके मटमैली आभा?* लोक जीवन की गरीबी का चरम रूप है महामारी, सूखा और बाढ़। बाढ़ के बाद के अकाल की यह तस्वीर 1959 में नागार्जुन की कलम से बनायी गयी थी पर यह तस्वीर आज भी भारतीय गांवों के अकाल की सच्ची तस्वीर है—*कई दिनों तक चूल्हा रोया/चक्की रही उदास/कई दिनों तक कानी कुतिया/सोयी उसके पास/कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की गश्त/कई दिनों तक चूल्हा की भी हालत रही शिकस्त/दाने आए घर के अंदर/कई दिनों के बाद/चमक उठी घर भर की आंखें/कई दिनों के बाद/कौये ने खुजाई पाखें/कई दिनों के बाद* (अकाल और उसके बाद)।

अभाव के इस चरम दृश्य को रचने वाले नाागर्जुन की खासियत यह है कि उन्होंने लोक जीवन की कविताओं में कहीं भी निराशा को आश्रय नहीं दिया। बल्कि उसकी जगह उन्होंने बराबर अपनी कविता में समाज के साधारण मनुष्य के भीतर छिपी जनशक्ति को उभारने की कोशिश की है। आप पढ़ जाइए उनकी कोई भी लोकजीवन की कविता। पर आपको निराशा या हताशा का स्वर कहीं नहीं मिलेगा। बल्कि हर जगह वे आस्था और विश्वास के कवि के रूप में पाठकों के सामने आते हैं। वे स्वयं अपने बारे मे बेबाक शब्दों मे कहते हैं। रवींद्रनाथ ठाकुर पर लिखी उनकी एक कविता उन्हें जानने के लिए काफी है—*पैदा हुआ था मैं/दीन हीन अपठित किसी कृषक कुल में/आ रहा हूं/पीता अभाव का आसव ठेठ बचपन में*।

पर यह मान लेना ज्यादती होगी कि नागार्जुन सिर्फ गरीबी और अभाव के जन नायक कवि हैं। बल्कि उनकी कविता लोक जीवन की लोक परंपराओं, विश्वासों उनके प्रेम और वियोग की भी कविता है। उनकी प्रकृति प्रेम की कविताए जितनी समृद्ध हैं उतनी ऊर्जा प्रकृति के चितेरे कवि पंत मे मुश्किल से दिखायी देगी। प्रायः वे प्रकृति का मानवीकरण करते हैं और उसे जीवन के यथार्थ से जोड़ते हैं। वे कविता में प्रकृति चित्रण सिर्फ प्रकृति चित्रण के लिए नहीं करते। बल्कि प्रकृति में भी वे मनुष्य की प्रकृति का निराला की तरह आह्वान करते हैं। बादलों पर एकाग्र उनकी ये पंक्तियां कितनी हाजिर जवाब हैं—*देखिए तो इनकी लीला/बूंद बूंद बरसते हैं/टुकड़ों में बटे-बटे/नीचे धरती की ओर बढ़ते हैं/फ्रिज के अंदर जम जाते हैं/देखिए तो इन की लीला/क्या वे वही है/जिन्होंने कालिदास को/अपनी तरफ खींचा था?/क्या यही उस कवि को/उड़ा ले गए थे अलकापुरी?/देखिए तो इनकी लीला*।

केदारनाथ अग्रवाल लोक संस्कृति के दूसरे बड़े कवि हैं जिनकी कविता में जन संघर्ष और लोकजीवन इस तरह रचा बसा है कि उनकी कविताओं में इनकी अलग-अलग व्याख्या

करना आसान नहीं। अकेले केदारनाथ अग्रवाल ने श्रम जीवन पर जितनी कविताएं लिखी हैं वे केवल हिंदी ही नहीं संपूर्ण भारतीय भाषाओं में असंभव है। केदार भी लोक संस्कृति में सबसे ज्यादा बल श्रमिक की मुक्ति मानते हैं। वह मानते हैं कि जब तक भारत का किसान और मजदूर और कामगार वर्ग स्वतंत्र नहीं होगा तब तक लोक जीवन की मुक्ति असंभव है। एक ग्रामीण श्रमिक की जिंदगी का चित्र देखिए—*आदमी का बेटा/गरमी की धूप में भांजता है फहुआ/हड्डी को देह को तोड़ता है। खूब गहराई से धरती को खोदता है/कांखता है—हांफता है—मिट्टी को ढोता है/गंदी आबादी को नालों से पाटता है।*

इसके अलावा केदार की कविताओं में लोक जीवन का सबसे उल्लेखनीय पक्ष है—प्रकृति। उनकी कविता में प्रकृति के सभी रंग आपको एक साथ मिल सकते हैं। हवा नदी, पेड़, पौधे, चिड़िया, खेत-खलिहान सब कुछ जहां प्रकृति अपने समग्र परिवेश को सम्मोहन के स्तर पर हमारे मन को बांधती है—*सुनो बात मेरी अनोखी हवा हूं/बड़ी बावली हूं/बड़ी मस्तमौला/नहीं कुछ फिकर है/बड़ी ही निडर हूं/जिधर चाहती हूं/उधर घूमती हूं न आशा किसी की/न प्रेमी न दुश्मन/जिधर चाहती हूं/उधर घूमती हूं/हवा हूं हवा मैं/वसंती हवा हूं।* इन पंक्तियों में वसंती हवा में जितना अल्हड़ रूप चित्रित किया गया है वह प्रकृति में सौंदर्य बोध और कल्पना का अन्यतम उदाहरण है। देखा जाए तो केदार की कविता प्रकृति का जादू है। वह उन्हें बांदा में केन नदी के तट पर मिला है। उस नदी का यह खंडिता नायिका जैसा चित्र देखिए—*आज नदी बिल्कुल उदास थी/सोयी थी अपने पानी में/उसके दर्पण पर/बादल का वस्त्र पड़ा था/मैंने उसको नहीं जगाया/दबे पांव घर वापस आया।* केदार अक्सर प्रकृति को स्त्री का रूप बनाते है। किंतु वह स्त्री नागर की न होकर गांव की एक ठेठ स्त्री है। कम से कम उनकी 'धूप' कविता का मानवीकरण यही चित्र प्रस्तुत करता है—*धूप चमकती है चांदी की साड़ी पहने/मैके में आयी बेटी की तरह मग्न है/फूली सरसों की छाती से लिपट गयी है/जैसे दो हमजोली सखियां गले मिली हैं/मैया की बाहों से घूटी भौजाई सी/लहंगे सी लहराती हवा चली है/सारंगी बजाती है खेतों की गोदी में/दल के दल पक्षी उड़ते हैं मीठे स्वर के।* केदार की लोक जीवन की कविताओं में सबसे मादक स्वर है—संगीत का जो प्रायः उनकी गीतात्मक संवेदना की कविताओं में देखा जा सकता है—उनके एक गीत की पंक्तियां उद्धृत करता हूं—*माझी न बजाओ बीन/मेरा मन डोलता/मेरा मन डोलता/जैसे जल डोलता/जलका जहाज जैसे/पलपल डोलता।* कहा जा सकता है कि केदार प्रकृति के लिहाज से लोक संस्कृति के सबसे बड़े कवि हैं जो स्वयं कहते हैं—''प्रकृति में हम रहते हैं जो हमारे लिए मां है। उसी को हमने अपने आज के साहित्य से निष्कासित कर दिया है और हम हो गए हैं प्रकृति विहीन निस्संग आदमी। यह कहना कि सौंदर्य कलाबाजी है उसका जीवन से कोई संबंध आज के युग में नहीं है, बेहद गलत है। प्रकृति से उद्भुत हुआ करता है सौंदर्य। श्रम से सौंदर्य का स्वरूप उजागर होता है। सौंदर्य का हनन प्रकृति और जीवन का हनन ही तो है।''

इस परिप्रेक्ष्य में अगर हिंदी भाषी अंचल की जातीय चेतना के अमर कवि त्रिलोचन

की कविताओं की चर्चा न की जाए तो हम लोक संस्कृति के एक समृद्ध भाग से अलग हो जाएंगे। वह है—भारत का पूर्वी उत्तर प्रदेश का भोजपुरी समाज। त्रिलोचन की कविता नागार्जुन की तरह लोक संस्कृति का प्रतिबिंब है। पर उनकी लोक कविता का सबसे बड़ा तत्व है—ठेठ स्थानीयता। कविता में यही ठेठ स्थानीयता उनकी कविता का प्राण तत्व है जिसे लेकर वे धरती से आज तक कविता में मौजूद हैं। लोकजीवन की उनकी कविताओं में आपको नागार्जुन जैसी क्रांति या केदार के केन किनारे का लजीला रंग तो नहीं मिलेगा। बल्कि सहज मनुष्यता से रची बसी दुनिया मिलेगी जो उनकी कविता को लोक जीवन का सच्चा वारिस सिद्ध करती है। उनके लोक जीवन की कविताओं के साधारण चरित्र कविता में आकर असाधारण बन जाते हैं। उनकी प्रायः चरित्र प्रधान कविताएं इस तथ्य के प्रमाण हैं। फेंकू कहार और नगई महरा जैसी चरित्र प्रधान कविताएं खासतौर से उल्लेखनीय हैं। उनके काव्य चरित्रों में भारतीय लोक मानस जैसी ही खामोशी है। पर उनके भीतर एक विराट हाहाकार उमड़ता अनुभव होता है। उनकी लोक जीवन की कविताएं प्रायः बातचीत से शुरू होती हैं लेकिन बातचीत खत्म होते-होते एक गभीर अर्थ संकेत के साथ चमक उठती हैं। कातिक का पयान गांव के किसानी जीवन की एक अद्‌भुत कविता है। इस छोटी सी कविता में आप गांव का कर्म जीवन भी देख सकते हैं और गांव का प्रकृति जीवन भी—'कातिक पयान करने को है उठाया है, दाहिना चरण/देहरी को लांघ आया है/लेकिन अंगूठा अभी भूमि से लगा नहीं/ऊपर से ऊपर जैसे जगा नहीं' त्रिलोचन की *चंपा काले—काले अक्षर नहीं चीन्हती* ग्रामीण प्रेम जीवन की एक अद्‌भुत प्रेम कविता है। इसमे गांव की एक भोली लड़की चंपा के प्रेम के निश्छल अज्ञात अनुभवों को शब्द दिया गया है। जो अनपढ़ है, अबोध है काले-काले अक्षरों को नहीं चीन्हती, फिर भी त्रिलोचन की दृष्टि में चंपा अच्छी है, चंचल है, नटखट है। शायद इसीलिए वह कवि को अच्छी लगती है। इस मार्मिक कविता की आखिरी पंक्तियां उल्लेखनीय हैं जिनमें चंपा के अपने भावी पति के प्रति एकनिष्ठ समर्पण की भावनाओं को देखा जा सकता है—*चंपा बोली/तुम कितने झूठे हो देखा/हायराम/तुम पढ़ लिखकर इतने झूठे हो/मैं तो ब्याह कभी न करूंगी/और कहीं जो ब्याह हो गया/तो मैं अपने बालम को संग साथ रखूंगी/कलकत्ता मैं कभी जाने न दूंगी। कलकत्ते पर बजर गिरे*। इस कविता में कलकत्ते पर बजर गिरे पर गौर कीजिए। यह 'बजर' शब्द भोजपुरी लोक जीवन का एक ऐसा शब्द है जो प्रायः आघात लगने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यहां बजर शब्द प्रेम के भावी संबंधों को टूटने की बुरी खबर की तरह है, जिसे चंपा याद नहीं रखना चाहती और कलकत्ते को हमेशा के लिए भूल जाना चाहती है। यह है महानगर और गांव की प्रेम संवेदना का फर्क जिसे त्रिलोचन व्यक्त करना चाहते हैं। कहा जा सकता है, त्रिलोचन लोक जीवन की कविता में ठेठ स्थानीयता के बोध के आज अन्यतम कवि हैं, जिनके लोक जीवन की बुनियाद है बनारस।

आखिर में त्रिलोचन की चर्चा करते हुए उन्हीं की परंपरा के एक समृद्ध लोक जीवन के कवि केदारनाथ सिंह की 'सड़क पर दिख गए कवि त्रिलोचन' कविता के बहाने

आज की कविता में लोक संस्कृति की चेतना का सिर्फ संकेत भर करना चाहता हूं क्योंकि इस कविता के सूत्रधार त्रिलोचन ही हैं। पर कविता एक ऐसे बच्चे के रूदन की कविता है जिसके हाथ से छूटकर सवेरे सवेरे उसका मिट्टी का बाघ बना खिलौना नष्ट हो गया है। वह बेतरह रो रहा है। कविता में त्रिलोचन आते हैं और पूछते हैं कवि से यह बच्चा क्यों रो रहा है? कारण जानने के बाद वह कहते हैं—*चलो ले आते हैं/दूसरा बाघ/कवि ने कहा—नहीं वह जिद पर अड़ा है/उसे चाहिए वही/और सिर्फ वही बाघ/जो कि टूटने से पहले था*। त्रिलोचन हिचकते हैं और कहते हैं *चलो वही लाते हैं* कवि पूछता है *'कहां मिलेगा।'* त्रिलोचन जवाब देते हैं *'कहीं न कहीं/किसी कुम्हार की आंखों में/वह होगा जरूर जस का तस*। कविता का अंत उस बाघ की खोज में होता है, बल्कि कहना चाहिए वह आज भी जारी है—*तब से कितना समय बीता/हम अब भी चल रहे हैं/आगे आगे कवि त्रिलोचन/पीछे पीछे मैं/एक ऐसे बाघ की तलाश में/जो एक सुबह/धरती पर गिरकर टूट जाने के पहले वह था*।

अगर इस समग्र कविता के निहितार्थ का इस्तेमाल कविता में लोक संस्कृति की खोज पर लागू किया जाए तो कहा जा सकता है कि आज के उपभोक्तावादी जीवन में लोक संस्कृति उस मिट्टी के खिलौने वाले बाघ की तरह है जो अगर जीवन से एक बार टूट गया तो दुबारा उसकी वापसी असंभव है। कम से कम हिंदी कविता की लोक संस्कृति के ये तीन कवि अपनी कविता के बहाने हमारे भारतीय समाज को यही संदेश देते हैं। आज इस संदेश को कविता और जीवन में परखने की जरूरत है। □

दो कविताएँ

प्रेमरंजन अनिमेष

(एक)

गाती हुई औरतें

वे गा रही हैं
पता नहीं कौन-सा गीत
पर वे गा रही हैं
जबकि चिड़िया अपनी चहचहाहट
भूल चुकी है
दिन और दौर की शिद्दत मे

गा रही है
गीत फसल कटने का
या डोली उठने का ?

'उपवास' है इसलिए गाती हैं
या पेट में 'कुछ' है इसलिए

कोई चीज़ भूली, वे गाती हैं
याद आया कुछ, वे गाती हैं

गा रही हैं
मन खाली-खाली होगा
वे गाएँगी
मन भरा-भरा सा होगा तब भी

रोती नहीं, गाती हैं
गाती हैं खुल-खुल हँसने के लिए
हँसने के बदले

हर दम गाती हैं
हर समय, स्थान, स्थिति को
गीत में बदल देती हैं स्त्रियाँ
गाती हैं जुटान में
अकेले में, अचानक
पकड़ती हैं बहुत पहले छूटे गीत की पंक्ति

सुलाने के लिए गाती हैं बच्चे को
इस अखंड व्रत की पूरी रात
कभी न झपके आँख इसलिए

गीत को उठा लेती हैं
गिरने नहीं देतीं
सब कुछ याद, सब कुछ सहेजे रखने का भार उन पर

गीत के साथ लय हैं
गीत की भीत नृत्य
वे नाचती हैं हर क्षण
जो न दिखाई न सुनाई देता

आखिर कुछ तो चाहिए
लगातार नाचते, पृथ्वी की तरह
भूलने के लिए थकान

बस रह गई दो बार
अपने जन्म को नहीं गाया
अपने ब्याह पर नहीं
अंतिम इच्छा
गाए अपनी मृत्यु खुद !

(दो)

जाना

जब जाना होगा मुझे
तो सहसा तेज़ हो जाएगी मेरी याददाश्त

याद आ जाएगा कुछ
जिसकी खातिर ज़रुरी ही होगा जाना

जब जाना होगा मुझे
तो कहीं से आकर घर से
लग जाएगा रास्ता
गली में दिख जाएगी कोई सवारी
जो ऐसे कभी नहीं आती

किसी की घड़ी से चुभ जाएँगे काँटे
मैं पूछूँगा समय
जो किसी बस या गाड़ी का हो सकता है

जब जाना होगा मुझे
देर तक नहीं मिलेगा
एक पाँव का जूता
एक बच्चे से होगा ही नहीं प्रणाम
कुछ खूबसूरती से हिलने वाले कोमल हाथ
एकदम से भूल जाएँगे सब कुछ

जब जाना होगा मुझे
ठीक उसी समय
भक्क से आ जाएगी बिजली
घूमने लगेगा पंखा
बिना शोर के टपकने लगेगा पानी
रसोई से दौड़ेगी पकते खाने की गंध

लेकिन मुझे तो जाना होगा
एक-एक कर
होते किसी के हाथ
आएँगे सामान

साथ रखनी होगी
स्मृति
रास्ते में कोई दवा लेने की
पहुँचकर एक चिट्ठी लिखने की

नहीं भूलने के लिए होगा
ख्याल
सेहत और फिर कभी आने का
और क्या इतना ही भर

कुछ ज्यादा तो नहीं हो जाएगा भार
कितनी देर तो
सामान ही अड़े रहेंगे
और ठहरेंगे जितनी देर, बढ़ते रहेंगे

अंत में पूछेगी वह
'कुछ छूट तो नहीं रहा ...?'
कोई क्या कहेगा
बस देख लेगा
कुछ के बहाने एक बार हर किसी को

कोई
इस तरह कट कर जाते
कैसे कह सकता है पूरे भरोसे के साथ
कि कहीं कुछ
छूट नहीं रहा ...। □

प्रेमरंजन अनिमेष : नवोदित रचनाकार। कविता, कहानी और गजल के क्षेत्र में सक्रिय। कुछ कहानियां चर्चित हुई हैं। पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएं।
संपर्क : 54 एल.आई.सी. कालोनी, कंकड़बाग, पटना-20

छह कविताएँ

विश्वमोहन तिवारी

(एक)

बरगद

कवि लोग बरगद के नीचे
गोलाकार में बैठ
खूब हुक्का गुड़गुड़ाते हैं

शब्दों के विमान ले कुछ
धुंए से आकाश में
प्रेयसी का नाम लिख
विजय पताका फहराते हैं

और कुछ आसमान में
हैरत अंगेज
कलाबाजियां दिखलाते हैं

कुछ जादूगर
हाथ की सफाई से
अचरज में डालते हैं

कुछ स्वरिकाओं से
मर्म स्पर्श करते हैं

जो कीमियागरी से
दिल का मंथन कर
ज्वालामुखी बना दे
उस कविता की
तलाश है

जरूरत है
बरगद की छाँह छोड़कर
कड़ी धूप में निकलें
और शब्दों के पलीते से
कविता की बारुद में
आग लगाकर
सोने के किले को उड़ा दें
और नीले आकाश में
ढाई आखर की
पताका फहरा दें।

(दो)

आत्मलिप्त

एअरपोर्ट के भरे
प्रतीक्षागार में
कृष्ण का चित्र देखते ही
एक बालक
हाथों को बांसुरी की मुद्रा दे
नाचने लगता है

उसे देखकर
उसकी मां के सिवाय
कोई भी नहीं मुस्कराता

(तीन)

हमारा आकाश

पहले नीले
आकाश में
सूर्य था
चंद्र था
ध्रुवतारा था
सप्तर्षि थे
बारह राशि मंडल थे
अट्ठाइस नक्षत्र थे
देवयानी आदि नीहारिकाएं
और अनंत मंदाकिनियां थीं

आजकल
विज्ञान के रथ पर
जब हम
अंतरिक्ष की सीमा खोज रहे हैं,
आपने भी गौर किया होगा
हमारे आकाश में
केवल पांच तारे ही
चमकते हैं।
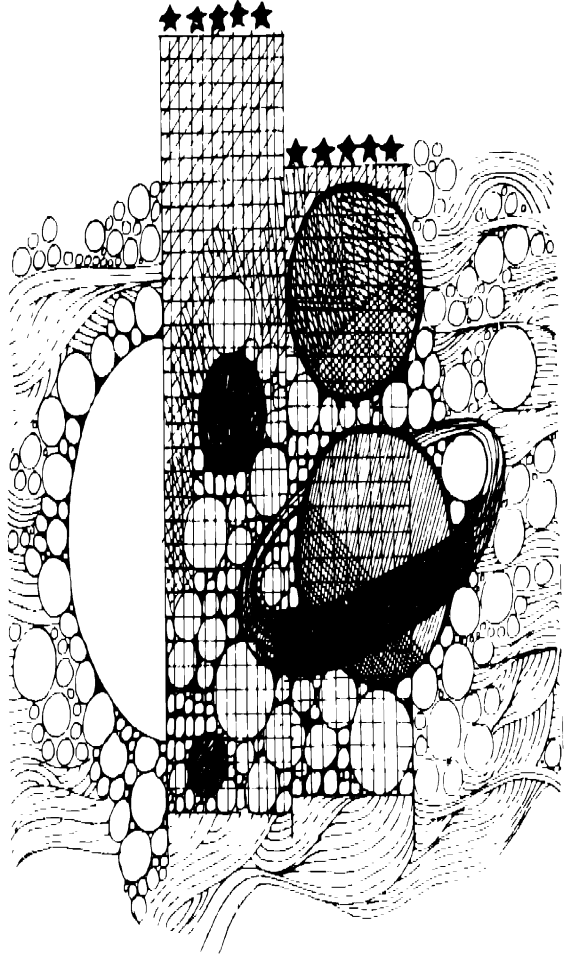
(चार)

घरघट

पहले होते थे
पनघट
जहां प्रेम की
बेल पनपती थीं

फिर होने लगे
जमघट
जहां प्रेमियों पर
मुकद्दमे चलाए जाते थे

अब हो गए हैं
मरघट
जहां प्रेम का
दाह संस्कार होता रहता है
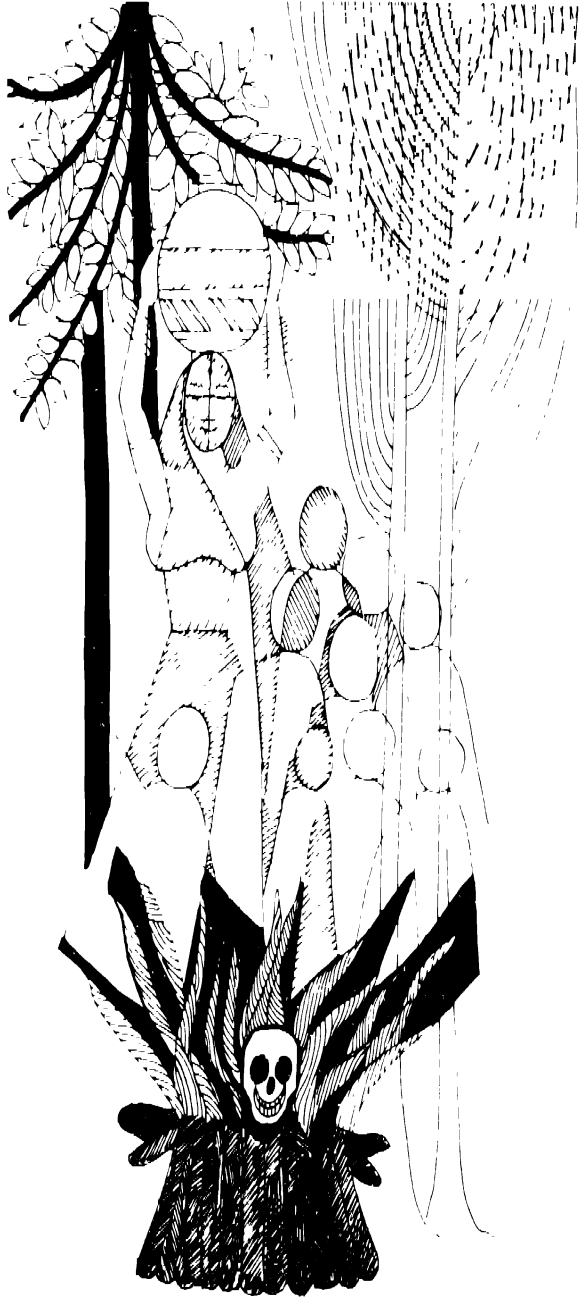
(पांच)

अरुणिम

गोधूलि की बेला में
नीले आकाश की
पड़ते ही चितवन
बदरिया का गोरा मुख
हो जाता है अरुणिम

राधा के चंद्रमुख पर भी
आ गई है लालिमा
क्या गौवें चराकर
लौटा है किशन काला
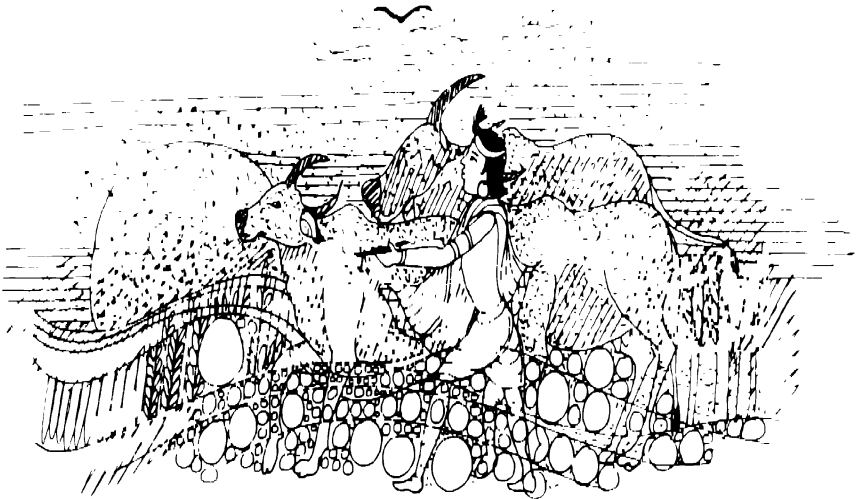
(छह)

हम मानव हैं

हम वे मछलियां नहीं
बचाव जिनका संख्या में
हम तो दब के मर जाएंगे
हम वे मधुमक्खी नहीं
बचाव जिनका रूढ़ितंत्र में
हम विद्रोह करते मर जायेंगे
हम वे सांड़ नहीं
बचाव जिनका रेतन में
हम उसकी आग में जल जाएंगे
हम वे इल्ली नहीं
बचाव जिनका भकोसने में
हमें वही खा जाएगा
हम वे सिंह नहीं
बचाव जिनका आतंक में
हमारी अस्मिता मिट जाएगी
हम वे मानव हैं
जिनकी सार्थकता
मां टेरेसा
गांधी, ईसा
वशिष्ठ, बुद्ध-सा
होने में है।

□

[कविताओं पर रेखांकन ● अतुल माथुर द्वारा]
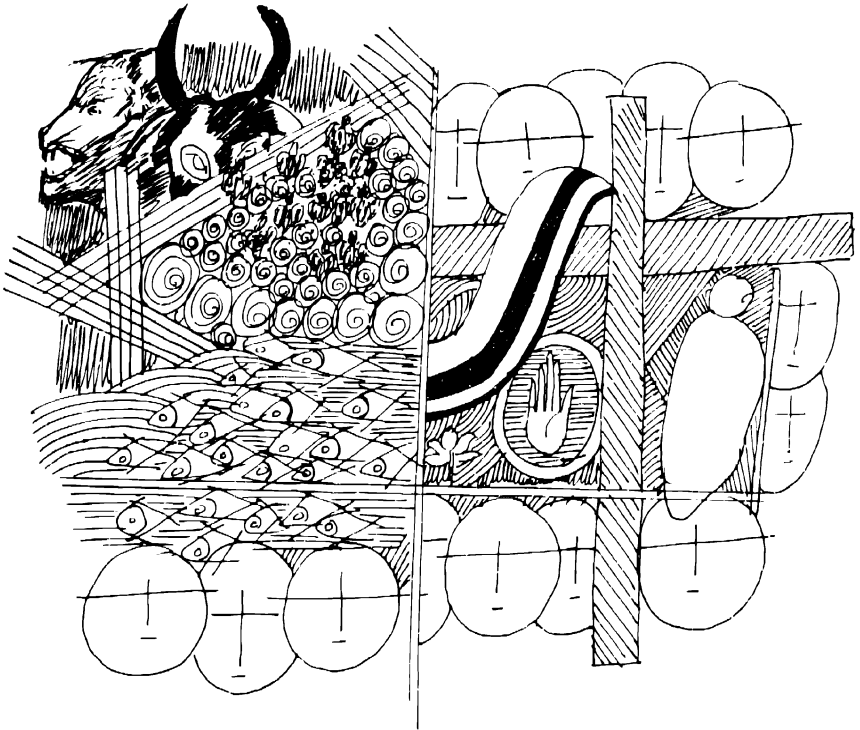
तीन कविताएँ

कात्यायनी

(एक)

दाहक जीवन दाह

जिंदगी की सरहदों में
लपलपाती रहती हैं
अग्नि की लाल जिह्वाएं।
मृत्यु में ही मुक्ति
देखती है स्त्री।
बार-बार
वरती है
उसे।

एक दिन
मृत्यु के प्रदेश में प्रवेश से पूर्व
एक बार पीछे मुड़कर देखती है स्त्री
जीवन की ओर।
वहां सब कुछ शांत है
मृत्यु की ओर
स्त्री के
प्रस्थान के बाद।

स्त्री पीछे मुड़ती है।
प्रचण्ड वेग के साथ।
अपने हाथों आग लगा देती है,
राख कर देती है
वह सब कुछ
जिसे

लोग कहा करते हैं
भरा-पूरा जीवन ।

(दो)

दुःख के बादल

दुःख के बादल तुम्हें घेरे
न बांधो नहीं रोको
देर तक मन के क्षितिज पर ।
शर्म मत खाओ कभी भी
मन रहेगा—दुःख के बादल घिरेंगे
कभी कुछ कम, कभी ज्यादा ।
शोक से जब
शक्ति का इस्पात ढलता है
तब कहीं
अवसाद का हिमखण्ड गलता है ।

(तीन)

पुराना अलबम

आसमान से बरसते जुगनू हैं
मम्मी के चेहरे का नूर है
एक झरना है पुराने अलबम में
हंसी की एक लहर
वह एक विस्मृत दोपहर
हवा में उड़ते रुई के फाहे
धुनकी की आवाज
फुलसुंघनी चिड़िया और खिरनी का पेड़
बारिश की एक शाम में
पकौड़ी खाते हम सभी भाई-बहन

तूफान और सन्नाटा और भेड़ें
और धूसर नंगे पहाड़
दादी का पानदान
और बूआ का कजरौटा भी मौजूद है
लोगों के बीच
पुराने अलबम में
वहां एक खाली जगह भी है
पासपोर्ट साइज
दिल में रिसते नासूर जितना ही
क्षेत्रफल वाला।
अपना-अपना ढंग है
पुरानी चीजों को देखने का
बीत गयी बातों पर
सोचने का
अलबम का अपना
और
मेरा अपना।

कात्यायनी : युवा कवयित्री। पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएं। कुछ कविताएं अंग्रेजी एवं पंजाबी में अनूदित।

संपर्क : एम.आइ.जी. 134, सप्ती नगर (प्रथम चरण) आरोग्य मंदिर, गोरखपुर, उ.प्र.।

पेड़

उमादत्त शर्मा सतीश

पेड़ मनुष्य है
कुछ कुछ मनुष्य।
खड़ा ही रहता है वह
माटी में टिकाकर फैलाकर जड़ें अपनी।
तृप्त होता है
वर्षा-बूँदों की फुहार से
लहलहाता है वह
लहलहाती हैं पत्तियां उसकी
हरी-भरी रहती हैं शाखाएं।
हिलता-डुलता है
सांसें भरता-छोड़ता है
ऋतुओं में परिधान ओढ़ता है
छबीले रंग-रंगीले।
बहुरंगी आकृतियां उकेर
उगते हैं फूल।
फूलों की घाटियां कहीं
फूलों का आसमान
डालों पर बैठी बहुरंगी चिड़ियां
गाती हैं गान
अद्‌भुत है, अक्षय है
इनका ध्वनि विज्ञान।
हँसता, विहँसता, उल्लास उड़ेलता
पेंगे लेता, नृत्य बिखेरता
पथिकों में मुस्कान देखता
अपनी छिटकाता मुस्कान।
कहीं कहीं सुनसान
ध्वनियां-प्रतिध्वनियां दिनमान

वृक्ष जाति का यह परिधान।
पशुओं, पक्षियों, राहगीरों को
ओट और छाया
वर्षा की झड़ी हो
तपती दिनकाया।

नदी जल का हो उफान
वृष्टि हो, वात हो महावृष्टि
प्रलंयकारी बाढ़ हो
ध्वस्त कर देता है वृक्ष आक्रामकों को।
किसानी, उपवनों की रवानी
रहती है बदस्तूर
नहीं उठता है कोई
हानिकारक उन्माद
नहीं होता है भूमि कटान।
मनुष्य की भांति
सामाजिक दायित्व निभाता है
बोधिवृक्ष।

यह तो है ही
पर कुछ और
सांस्कृतिक-आध्यात्मिक।
पद्म, वट, पीपल के होने की अनिवार्यता
गांवों में पनघट के आसपास
नगरों में राहों पर चौराहों पर
जलपीता तुलसी का बिरवा
घर घर में आयुष्मान कहकर।

कल ही तो गांव की चौपाल में
युवास्वरों की गूंज में
पद्मवृक्ष पर गीत सुना—

पद्मवृक्ष उगा है खेत की मेंड़ पर
चलो चलें देख आएं।
पहले दिन एक पात
दूजे दिन दो पात
तीजे दिन तीन पात
चलो चलें दूध से सींच आएं
चहुंओर बाढ़ कर आएं।
शाखाएं फूटने लगी हैं
छायादार होने लगी है डाल
चलो चलें पद्म की छांव में बैठ जाएं
सहन नहीं हो पाती तपते दिनों की तपन
चलो चलें पद्म की छांव में बैठ जाएं
फिर खेती का काम करें।

वट-पीपल की परिक्रमा क्रम
चलता आता युगो युगो से
युगो युगो तक
बिसराया नहीं जा पायेगा।

अफ्रीकी देशों में
सेमल है प्रतीक पावनता का
फीजी द्वीपों में
नारियल तृप्तिदायक
जावी समाज में मान्य
स्त्री है धान का पौधा
गर्भवती है धान की पकती फसल
चीनी लोग शांतिपाठ करते हैं
मृतक की समाधि पर
करके वृक्षारोपण।

सुमात्रा के संवेदनशील लोग
प्रार्थना करते हैं—

वृक्षदेव तुम्हारी जरूरत है मुझे
तुम्हें कुल्हाड़ी से काटना
मानव रक्षक को काटना है
ऐसा है ही
पर मुझे तुम्हारी जरुरत है
कुल्हाड़ी चलाने की अनुमति दे देना।

पेड़ उगाओ
पेड़ बचाओ
हिमालय के जगलों की कटाई
रोकने के लिए गौरादेवी तथा
हिमालय की अन्य नारियां
वृक्षों पर चिपकीं
बोली यों—
हम कटेंगे। हमारे वृक्ष नहीं कटेंगे।
क्योंकि पेड़ मनुष्य हैं
सचमुच मनुष्य। □

दो वसंत चित्र

(एक)

गुनगुनाहट

वसंत के गीत लिखने के लिए
आतुर था कवि हृदय
वसंत को जीना चाहता था वह
यों तो उसने कई वसंत देखे थे
पर यों ही, यों ही।

आंगनों, उपवनों और वनों में
उगे कोमल पंख वृक्षों पर
जागी हरियाली में
हल्की गुनगुनाहट।

लाल, पीले, नीले, हरे, गुलाबी
भांति भांति रंगों के फूल
और फूलों में हल्की गुनगुनाहट।
बालकों, युवक-युवतियों, वृद्धों में
मुस्कराहट और खिल-खिलाहट
और मुस्कराने-खिलखिलाने में
हल्की गुनगुनाहट।

पुष्पों पर मंड़राते बेशुमार भौंरे
भौंरों की गुंजार
और गुंजार में हल्की गुनगुनाहट।
आम्र मंजरियों से लदगद आम्रवृक्ष
मंजरियां ही मंजरियां
और मंजरियों की सुगंध में
हल्की गुनगुनाहट।

डालों पर कूकती कोयल
कुहू कुहू शब्दध्वनि
और उस ध्वनि में निहित
हल्की गुनगुनाहट।

हिमशिखरों की
पिघलती हिमजलराशि
हिमजलराशि से उमड़ती नदियां वेगवती
वेगवती नदियों में हल्की गुनगुनाहट।

कविहृदय रहा प्रतीक्षारत
आया वसंत
वसंत-बानगी से हुआ वह आहत।

(दो)

रंगों में गुलाल

संगीत का राग है वसंत
अलमस्त फाग है वसंत
चित्रकार की कृति है वसंत
कवि की कविता है वसंत
जनमानस का गीत है वसंत
प्रकृति की छटा है वसंत
ढोल-मृदंग ताल है वसंत
रंगों में गुलाल है वसंत!

□

उमादत्त शर्मा सतीश : लेखक और कवि। *सूरीनाम का सांस्कृतिक अध्ययन* पुस्तक के प्रणेता और वहां अतिथि प्राध्यापक रहे। इन्होंने पहाड़ी लोककथा व लोक गीतों पर विशेष कार्य किया है।
संपर्क : हिंदी भवन, डुमगांव, राजपुर, देहरादून, उ.प्र.।

ललित निबंध

वासंती परिधान में अमलतास

डॉ. मनोहरलाल

अमलतास मेरी कांगड़ा घाटी का लाड़ला भी है और बालसखा भी। जाने कितनी स्मृतियां इससे जुड़ी हैं मेरी। ऋतुओं के आंगन में जब-जब उल्लासपर्व मनाए जाते हैं, मन-मीत की प्रीत के गीत गाए जाते हैं, रोली और वंदनवार से सेहरे ऊंचे बंधाए जाते हैं तब-तब लगता है, प्रकृति श्री पादप-दर-पादप, तरू-दर-तरू और लता-दर-लता पुष्प-चित्र वीथियां सजाने में तल्लीन हो जाती है। मैं डाल-डाल, पात-पात मधु संचय के लिए निकल पड़ूं।

मेरे सामने मधुमास खड़ा है। उसने सारी वन श्री में नया प्राण फूंक दिया है। मधुमाती बयार ने 'और कछु' का वातावरण बना दिया है। सेमल अपने चटकवर्णी कटोरी पुष्पों को बुलंदी देकर गगन से बतिया रहा है। मुस्करा रहा है। कितना कुछ उससे ठगा जा रहा है। उसके पास रूप ही तो है और गंध तो नहीं न। पलास का भाई जो ठहरा। जीने के लिए पहचान बनवाकर जीने के लिए रूप ही से काम नहीं चलता। रूप, निरारूप तो अभिशाप भी हो जाया करता है।

सेमल, ऊपर बहुत ऊपर ऊंचा उठ गया है। वन-तापस है। बड़ा गर्वीला है। लगता है दर्प से सिर ऊंचा उठाए है और भुजाएं ऐसे फैलाए है अहंकारी की तरह! मानो डरा रहा हो, धमका रहा हो—देखो, मेरे हाथ बहुत लंबे हैं, पर जो सचमुच रूप, रस और गंध के धनी हैं—आम्र, कचनार और अमलतास चुपचाप खड़े हैं, जरा भी शोख नहीं है। वासंती चहल-पहल में चीख-चिल्ला नहीं रहे, मधुर-मधुर गुन गुना रहे हैं भौरों के मिस। वह भी, जीवन के गीत। वनश्री के मीत ये, वासंती के लिए परिधान लाए हैं। अमलतास की पीत पुष्प संपदा में से ताम्रवर्णी पत्र संपदा हरितश्री में बदली जा रही है। और ज्यों-ज्यों आतप बढ़ता जा रहा है अमलतास की मंजरियां खरा सोना बनकर उसी धरित्री को छूने को झुकी जा रही हैं जिसके रस से उन्होंने यह अभिव्यक्ति पाई है। चैत सखा वैशाख ने अमलतास को उस गुरू की तरह प्रगल्भ बनाकर सारी वनराशि में झांकना सिखा दिया है, जो अपने छात्र-शिष्य की प्रातिभ-उपलब्धियों से प्रतिभागियों को बखूबी परिचित करवा देता है। अमलतास की मंजरियां हर डाल पर, हर रूप में अपनी भव्यता का परिचय दे रही है। इनकी सुकुमारिता की बहार भी बयार के यान पर सवार हो, दिशाओं को गंधमयी बना रही है। हरीतिमा और पीताभा का काव्यमय भव्य इतिहास लिए मधुमास का संदेशवाहक यदि कोई मुझे रूचा है तो यह अमलतास ही। यह पुष्पभार से संपन्न है। अपनी पुष्प समृद्धि की प्रदर्शनी लगाए खड़ा है—कहीं सड़क के किनारे, कहीं उद्यान में, बाग में और कहीं

जंगल में अलमस्त। अपने प्रसन्नचित जादू से, हर द्रष्टा आंख को खिलाकर रखे दे रहा है। जेठ की तेज धूप से तापित, किसी दोपहरी में अमलतास ने कविवर नरेंद्र शर्मा को बांध लिया था। उन्हें लगा था, यह कोई प्रखर प्रहरी है, हठ योगी है, तरूण तपी है—

आतप में तप कर अमलतास
बन गया खरा सोना।
वह जेठ मास की दोपहरी,
वह पुष्प राग-रंग लहरी
प्राणों के मरकत-वन में वह
बन गया मनोबल का प्रहरी
यों सार्थक हुआ दुपहरी मे
नित नग्न खड़ा होना।
हठयोगी तरूण तपस्वी है
मन-प्राण प्रफुल्लित अमलतास।
जंगम बन गया धरातल पर
अंतर्मन वासी चिद् विलास।
है और हरा लगता वन का
हर हरा-भरा कोना।

अमलतास की इस रमणीक प्रकृति मे, जैसे प्रकृति का सारा सौंदर्य संकुलित हो गया है, घनीभूत हो गया है। अनगुथे फूलों से लदी इसकी मंजरियां इसके तन तरू के अंतस की व्याख्या के लिए बांह-बल्ली का सहारा ले बैठी है। इसकी तोता-पांखी पत्र श्री पीत सुमन-माल की प्रणयिनी हुई जा रही है, चुंबन पर चुंबन दिए, लिए जा रही है। और, मैं इसकी छाया में अनोखी वत्सलता से भीगा-भीगा, आतप से मुक्ति पा रहा हू। इसकी शीतल छाया में मुझे मां का हृदय और दुग्ध भरा मधुर वक्ष दिखाई पड़ रहा है। मैं धन्य हो गया हूं। अमलतास की प्रकृति श्री का यह विन्यास ऋतुचक्र के प्रवाह का सूचक है। काल-प्रवाह इसकी भी हर सांस, हर फूल-पत्ती में संचरण कर रहा है।

यह 'हठयोगी तरुण तपस्वी' मुझे बौद्ध भिक्षु अधिक लगता है। मै जब गांव मे था, अबोध बालक था, अमलतास से मेरा परिचय और सरोकार मात्र एक पेड़ का था। उस पेड़ का, जिसके पत्ते केले पकाने के काम आते हैं। उस पेड़ का जिसके पत्ते खेतों में पाती (खाद) डालने के काम आते हैं। उस पेड का जिसके पत्तों को कोई पशु नहीं चरता, मात्र गाय को छोड़कर (वह भी चखने भर के लिए एक आध बार मुंह मारती है) उस पेड का, जिसका छिलका चमड़ा रंगने के काम आता है। उस पेड़ का, जिसकी लकड़ियां, जिसका सुडौल तना मकान-छप्पर के लिए उपयोगी आश्रय स्तंभ या किसान के हल जोत संबंधी औजारों के काम आता है। और लोहे के कृषि औजार तपाने-घड़ने के लिए लुहार की भट्ठी

का तेजस्वी कोयला अमलतास की लकड़ी का हो तो क्या कहने। धरती पर से काट लिए गए बूढ़े अमलतास वृक्ष का जीप्डा (जड़-जाल, जो धरती में पड़ा-पड़ा दो बरसातें भीगकर काला पड़ जाता है) अर्थात् ठूंठ तेजस्वी कोयला आंच का धनी—यह पृथ्वीपुत्र मुझे अपना विस्तृत परिचय तब देने लगा जब मैं कवियों-मनीषियों के, इसके विषय में व्यक्त किए गए उद्‌गार पढ़ने का सिलसिला बनाने लगा। बहुपठित और बहुश्रुत होकर जब मैंने इसे दिल्ली महानगरी की सड़कों पर वासंती परिधान में सुरभित अपना अंगवस्त्र लहराते देखा तब मैं सहज ही कह बैठा—'ऊं मणि पद्‌मे हुं' का अजपा जपा कर रहे हो न रे भिक्षु।' इसने अपने अधर पत्र-पल्लव हिलाए, बयार के मिस कहा—'बाल सखे! मैं भी तुम्हारे संग-संग पहाड़ से मैदान में उतर आया, यही मान लो। जब जो भी मान दो, जो भी नाम दो मुझे सब अंगीकार है।'

'भाई, जो हुआ भूल जाओ। मैं ठहरा मनुष्य, भूल जा पुतला। मुझे क्षमा कर दो। 'अति परिचयात् अवज्ञा' के न्याय से ऐसा ही हो जाता है। प्रवास ने यहां हमारे बीच फिर आत्मीयता को जगा दिया है। पता है, ऐसा क्यों हुआ है? इसलिए कि जीवन प्रतिस्पर्धा नहीं, सहयोग है और सहयोगी कोई-न-कोई मिल ही जाता है।

मैं यहां महानगर में धर्मसंकट में फंस गया हूं। अमलतास को किस नाम से पुकारूं? इसके मेरी तरह दो-दो नाम नहीं कि एक घर का और दूसरा सर्टीफिकेट का—इसके तो कई कई नाम हैं। इसका जहां-जहां तक प्रसार है, वहां वहां की भाषा में इसका अपने-अपने रंग-ढंग का नामकरण हो गया है। आज की तारीख में भी, राष्ट्रभाषा हिंदी में तुलना में, हम भारतीयों की अधिक चहेती, मुंहलगी, लाड़ लड़ैती मानसिक गुलामी की प्रतीक अंग्रेजी में मेरा यह बालमित्र अमलतास 'गोल्डन शावर' है, 'इंडियन लैबनर्म' है, पंडिग पाइपट्री' है। बंगला का 'सौनालू' और गुजराती का यह 'गरमाठो' वनस्पतिशास्त्रियों का 'लैम्युमिनोसी' वर्ग का 'कास्सि आफीस्टुला' मेरी ग्राम्य भाषा में 'कनिआर' है। संस्कृत वालों ने इसे 'आरग्वध', नृपद्रुम' 'व्याधिघात', 'राजवृक्ष' तथा 'कृतमाल' नाम दिए हैं। मेरे गांव की वनराशि का यह 'कनिआर' जो भी हो कालिदास के 'कर्णिकार' का अपभ्रंश लगता है। कोई माने यह न माने, मेरा मन कालिदास के 'कर्णिकार' को 'कनेर' मानने को तैयार नहीं है। 'पलाश' और कर्णिकार को कालिदास ने 'ऋतुसंहार' में साथ-साथ याद किया है। उद्दीपन की भाषा कवि कण्ठ से यों फूटी है—किं किंशुकैः शुकमुखच्छविभिर्न भिन्नं

किं कर्णिकार कुसुमैर्न कृतं न दग्धम्।
यत्कोकिलः पुनरयं मधुरैर्वचोभिर्यूनां
मनः सुवदनानिहितं निहन्ति।।

अर्थात् प्रेयसियों के सौम्य मुख पर रीझे हुए प्रेमियों के हृदय को तोते के चंचुवत् लाल-लाल किंशुक (पलाश) के पुष्प हास-विलास ने ही क्या कुछ कम टूक-टूक कर रखा था अथवा कर्णिकार के पुण्य-संकुल ने ही क्या कुछ कम दग्ध कर रखा था जो यह

कोकिला भी अपनी मधुर कूक सुना-सुनाकर उन्हें, और मार डालने को उतारू हो बैठी है।

यह प्रेम-जगत का कार्य-व्यापार का कार्य व्यवहार हो। मेरा 'कनियार' से कुछ ऐसा ही प्यार है। 'कर्णिकार' किसी को कनेर हो तो होता रहे। मुझे 'कर्णिकार' का कनिआर' हो जाना बड़ा सहज तथा सरल दिखाई पड़ रहा है।

मेरे ग्राम्य-परिवेश में 'कनिआर' को 'अल्ही' भी कहते हैं और बंदर लाठी' भी। 'अल्ही' तो सीधा संस्कृत 'अलि' से जा जुड़ता है। 'अलिकुल-संकुल सुमन मंजरी' के कारण इसे 'अल्ही' कहा जाना बड़ा स्वाभाविक है। भौरों का संगीत सुनना हो, तो कोई इसके काये का शरणागत होकर देख ले। 'आल्ही' इसलिए भी सार्थक है कि इसे पुण्यहास में निहित पुष्परस मधुमक्खियों को बड़ा प्रिय है। उनका संचय मधुर मधु कर्णिकार की बहार वाला बड़ा उपादेय माना जाता है। वैद्य कुछ दवाइयां खाने के लिए, अमलतासी बहार के मधु की ही सिफारिश करते हैं। गुणग्राहक इसे ढूंढ़ भी लेते हैं और जरूरतमंदों के हित उपलब्ध भी करवा देते हैं।

मैंने अपने ग्राम-प्रांतर में भी देखा है, यहां शहर में भी देख रहा हूं, जेठ की तपिश भरी दोपहरी में अमलतास के फूलों को झुलस-झुलस कर पंखुड़ियों में बिखेरकर धराशायी भी कर दिया है नीचे बिछावन-सा बिछ गया है। यह इस तरू का अवदान है। इस अपार पुण्य संपदा की यही परिणति है। किसी देवता के शीश पर चढ़ना इन्हें कहां बदा है। वन में बिखर जाना ही इसकी नियति है। इस नियति में भी गरिमा है। पंखुड़ियां अपने पीछे डाल-दर-डाल कुछ परंपराएं छोड़ आई हैं। हल्की-हल्की पतली-पतली सुइयों सी डालों में अटकी-लटकी हैं हुक के आकार में। ये धीरे विकस कर वर्तुल किंतु लबी-लंबी फलियों का रूप धारण कर लेंगी। धीरे-धीरे पत्र श्री की सी हरिताभ प्रलम्ब ये फलियां सचमुच लाठियों की नाई लटक जाएंगी। बंदर इन पर आएंगे, उन्हें तोड़ेंगे-मरोड़ेंगे, कुतरेंगे, जाएंगे और तहस-नहस भी कर डालेंगे। तोड़कर, हाथों मे लेकर, परस्पर मारामारी का कौतुक भी रच डालेंगे। लोक में इसे 'बंदर लाठी' ठीक ही तो कहा। और काल के थपेड़े खा-खाकर जब यी फलियां पक जाएंगी, एकदम काली-कलूटी हो जाएंगी। लगेगा किसी तपी की लटकी हुई जटाएं हैं। हो न हो नरेंद्र शर्मा ने इस पुष्प राग-रंग रस लहरी को इसी भाव से 'हठयोगी तरूण तपस्वी' कहा हो। पर जो कुछ यहां सामने है और भविष्य में परिवर्तन के पट पर इसका जो चित्र बनेगा, वह सब इसका 'अंतर्मन-वासीचिद्विलास' ही है। इसके सुमन, सुमन नहीं इसी के अंग-अंग के विकास के चरण हैं। सारा द्रुमदल इस बहाने पुलकित पुलकित है। इसका पात-पात, इसकी डाल-डाल मधुवन बनी हुई है। इसकी श्री की बदौलत सारी वन श्री मधुकर गुंजित और मधुभार भरी हो गई है।

आज इस रूप, रस और गंध के दाता ने मेरे सामने अपना जो व्यक्तित्व प्रदर्शित किया है, उसमें मुझे इसके मधुरमंदी पुष्पहास ने मोह लिया है। मेरे भीतर का चोर इसकी मंजरियों को तोड़कर अपने घर ले चलने को मचल पड़ा है। जानता हूं, ऐसा करना इसके साथ घोर अन्याय होगा। आज इसकी मंजरियां मेरे लिए किसी औघड़ बैल के श्रृंग-मस्तक

सिंगार का उपादान नहीं बनेंगी। इनके गुच्छ को गोपुच्छ में बांधने की स्थिति में भी नहीं हूं। इसकी पुण्य मंजरियों से ग्वाल-बाल की जमात का सिंगार करने की हरकत भी मैं नहीं कर सकता। मैं तो बस इन्हें ले, घर ले जाकर, गिलास में पानी भर, उसमें डुबा अपनी बैठक की शोभा बढ़वाने का उपक्रम कर सकता हूं, उससे महज क्षण भंगुरता का पाठ सीखने के निमित्त राष्ट्र कवि के अनुज सियाराम शरण गुप्त की सीख कुछ उलटा ही असर मुझ पर दिखा रही है—

चलो चलो इस अमलतास के फूल न तोड़ो,
इसकी शाखा लिए कनक-कुसुमों की डाली।

'कनक-कुसमों की डाली' से तो दोनों हाथों में लड्डू हैं—कनक भी और कुसुम भी। ये इसकी 'गुण' प्रतिष्ठा की सजा है। गुण प्राणलेवा तो बन ही जाते हैं। सारी सृष्टि पर यही नियम लागू है। अपने हिरण्यमय कोश के इस दाता इस राजर्षि का अयाचित भाव से अपना सब कुछ लुटा देना लोकमंगल की भावना के फलस्वरूप है। इसके इस आपर्ण में अनूठा उत्सर्ग है।

तड़ित पीत पीतांबर इस कृष्ण—अमलतास का हास-विलास मेरे भीतर बहुत गहरे में रस-बस गया है। मैं नगर मे भी इसे ग्राम्य-सखा के रूप में पाकर धन्य हो गया हूं। श्री संपन्न अमलतास नखशिखा-पर्यंत सुंदरता, हरीतिमा, पीताभा तथा त्याग और उदारता का ललित निबंध, यह अमलतास। यह घर का वैद्य भी है। इसकी अधोलंबी फलियां औषधिगुणों की भंडार। अपक्वावस्था में इनका रूपविन्यास हरित-हरित। पक्वास्था में रक्ताभ कृष्ण वर्णी और यथा संभव कठोर। सूख जाने पर एक दम स्याहवर्णी। इसमें भी फलमज्जा अधिक उपयोगी। भीतर से यह अनेक कोष्ठों में विभाजित और वह भी ताम्रवर्णी पैसे के आकार के परत-दर-परत। इन परतों में दुबके बैठे अण्डाकार चपटे और चिपड़े हुए, चिकने रक्ताभ भूरे रंग के छोटे-छोटे लंबे पर बराबर ही चौड़े बीज। हर कोष्ठ में एक बीज। पूरी फली में दर्जनों जो बाल-गोपालों के लिए बाल क्रीड़ाओं के उपादान भी बन जाते हैं। इन बीजों वाली परतों मे भरी फल भज्जा अफीमी रंग की, किसी सीमा तक हल्की दुर्गंधमयी, चिपचिपी और मधुर। आप इसे अजीब-सी मिठास लिए गूदा कह लीजिए। यही है प्राणदायी अमलदास की औषधि प्रकृति। यह मधुर कटु गूदा कुछ-कुछ कसैला भी। कफ, पित्त तथा वातपरक रोगों का दुश्मन। बालजीवन के लिए अमलतास सच्चे अर्थों में कल्पवृक्ष। बाल जीवन बच्चों के उदर रोगों के लिए, उनकी सुडौलता के लिए, उनके शारीरिक और मानसिक विकास के लिए जितनी बाल-घुट्टियां मिलती हैं, उनमे प्रधान जादू अमलतास की फलियों के गूदा रस का ही है। हम मनुष्य ही नहीं, वनचर भी इसके महत्व को जानते हैं और अपना उपचार इनमे से करते हैं। गीदड़ और बंदर इन्हें सचमुच सचमुच वनौषधि के रूप में अपनाते हैं। 'अमर कोशकार' ने ठीक ही लिखा है—

आरग्वधे राजवृक्षशम्याक चतुरंगलाः।
आरेवतव्याधि घात कृतमाल सुवर्णकाः।।

तात्पर्य यह कि आरवग्ध शंगहता, सम्यक पाक पाचन वाली मंगलकारी रोचक रेचक तथा व्याधि घात है। पुण्यमाल मंजरियों का धनी होने से 'कृतमाल' है, सुवर्णक-शोभनवर्णी तो है ही।

यह अमलतास मुझे माटी की मुस्कुराहट भी लग रहा है। इसका स्मितहास वनश्री को मुखरित कर रहा है। इस हास को मैं आख से देख रहा हूं, नासिका से सूंघ रहा हूं। इसके पास जितना जो कुछ है, यह उसे दे रहा है, लुटा रहा है। कोई मनुष्य यह सब कहां कर पाता है। मनुष्य होकर भी वह सच्चा मनुष्य कहां हो पाता है। इसके व्यक्तित्व के कितने गुण गाए जाएं। यह हम मनुष्यों की तरह संकीर्णता का शिकार नहीं है। यह सबका है, सब इसके हैं। इसके लिए वर्ण, जाति, धर्म, प्रांत, देश आदि की कोई सीमा नहीं है, कोई प्रतिबद्धता नहीं है, कोई संकोच नहीं है। कोई भी इसे छू सकता है, कोई भी इसे पा सकता है, कोई भी इसे अपना सकता है। इसके मन में कोई झगडा नहीं, कोई द्वंद्व नहीं। सोचता हूं, क्यों नहीं हम मनुष्य वृक्ष हो जाते। अपने 'मैं' को, अपने वर्ण को, अपनी जाति को, अपने धर्म को, अपने देश को, विराट वृक्ष बना देते और फिर उसकी छाया से, उसकी काया से, उसकी पत्र-पुष्प-फलमयी माया से लाभान्वित होते। 'श्रीमद्भागवत' में संत के बारे मे जो कुछ कहा गया है, वह इस अमलतास पर भी खरा उतरता है, वृक्षमात्र पर खरा उतरता है। मुझे तो संत और वृक्ष एक मे दिखाई देते हैं—

संतोऽनापेक्षार्मच्चिता: प्रणता: समदर्शिन: ।
निर्ममा निरहंकारा निर्द्वंद्व निष्परिग्रहा ।।'

अर्थात् संत किसी प्रकार की इच्छा नहीं रखते। वे ईश्वर मे ही चित्त को लगाए रखते हैं। संत अतिनम्र, समदर्शी ममताशून्य, अहंकारहीन, निर्द्वंद्व तथा संचय न करने वाले होते हैं। अमलतास की डाल-डाल पात-पात मे यह सब कुछ है। इसका कहां तक बखान करूं। सौ बात की एक बात—'परोपकारार्थमिदं शरीरम्'

तरूणतपस्वी अमलतास ने सिर आसमान मे उठा रखा है। इसका चरण धरती में गड़ा है। इसका हर पल्लव अर्घ्य की मुद्रा में धरा की ओर अधोमुखी है। वर्षास्नात या ओस्नात होते ही यह अपनी पल्लवनासिकाग्र से बूंद-बूंद धरती को सींचता है। इसकी मंजरियां नम्रतापूर्वक झुक जाती हैं और झुकी रहती है। पुण्य मंजीरियों से फलित फलियां अपने अंतिम समय तक झुकी लटकी रहती है और धरती की ओर धरास्पर्श के लिए आतुर। इसलिए फिर कहना पड़ रहा है—'आतप' मे तपकर अमलतास बन गया खरा सोना'—इसलिए जानलो, मान लो—

नमन्ति फलिनोवृक्षः नमन्ति सज्जना जना: ।
शुष्कवृक्षानि मूर्खाश्च न नमन्ति कदाचन ।।'

अमलतास मधुमास की कलम से लिखा जा रहा काव्य है। इसका पुष्पहास उस नियंता का हास है। यह कितना रमणीक है, कितना ललित है। अमलतास धरित्री के हृदय

का मनोरम अनुराग है। अमलतास का सारा जीवन मेरा जीवन है। इसका सारा फूल फल मेरा फूल-फल है। इसकी सारी अभिव्यक्ति है। मैं इसके अतीत को बिसार नहीं सकता। मेरा अतीत इससे जुड़ा है, इससे बना है। जानता हूं, मानता हूं—इसका वर्तमान मेरा वर्तमान है, इसका भविष्य मेरा भविष्य है। धरती का इसके प्रति मां-सवित्री जो व्यवहार है, मेरे साथ भी तो वही है। मैं बच्चों की तरह अमलतास पर, वृक्ष मात्र पर आश्रित हूं। इसलिए बार-बार उच्चारता हूं—वनिजो भवन्तु शं नो' (वृक्ष हमारे लिए शांतिदायक हो।) आप भी मेरे साथ-साथ कहिए—'नमोवृक्षेभ्यो! नमो वृक्षेभ्यो।।'

ऋषि पादप अमलतास का अभिनंदन 'ऋग्वेद' की वाणी से करना ही उचित है।

अमलतास से इस महानगरी में कोई बीस साल पहले जब मेरी जान-पहचान और संवाद-वार्ता हुई थी तब इसने मेरा कवि-मन उद्वेलित कर दिया था। वासंती बहार का मैंने जो शब्द-चित्र दिया था, वह आज फिर मेरी स्मृति पर उमड़ आया है। पीताभ पुष्पश्री संपन्न अमलतास की पंक्ति को देखकर यही कहने को मन कर रहा है—

बनन में, बगल में, बोलन में, डोलन मे
जित देखो तित ही वसंत के सु-हास हैं।
रूप रस गंध और रंग की कनात सजी,
राधा-राधा रटि रिहे मुरलिया के स्वास हैं।।
कुंज-कुंज मंजुल मलिंदवृंद गूंजि रिहे
ज्वाल माल लाल 'लाल' पुहुप पलास हैं।
सेमल, कचनार और कनेर सब फूलि चुके,
पीले पीले कान्हा हैं कि तरू अमलताल हैं।।

डॉ. मनोहरलाल : प्राचीन साहित्य, लोक संस्कृति, ललित निबंध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। गुलेरी साहित्य को समकालीन कथाधारा से जोड़ने में योगदान।
संपर्क : बी-20, हिमकुंज, प्लाट नं. 8, सैक्टर-14, रोहिणी, दिल्ली-110085।

प्राचीन भारत के रथ

मदनगोपाल शर्मा

प्राचीन भारत में रथ हमारा प्रमुख वाहन रहा है तथा इसका हजारों वर्षों का गौरवपूर्ण इतिहास है। वैदिक साहित्य में रथों का उल्लेख मिलता है तथा उस काल में रथ अपने पूर्ण विकसित रूप में अस्तित्व में थे। अलग-अलग प्रयोजनों के लिए अलग-अलग प्रकार के रथों का उपयोग किया जाता था। दो पहियों से लेकर सौ पहियों तक के रथों का उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है। घोड़े और बैल तो आम तौर से रथ खींचते ही थे परंतु हिरनियों गधों आदि पशुओं से भी रथ खींचे जाते थे। रथों की दौड़ भी हुआ करती थी। तीव्र गति वाले रथ पाल युक्त होते थे। जिनमें हवा भर जाने पर तेज ...द उत्पन्न करते थे।

प्राचीन काल में आज जैसे यातायात के साधन तो थे नहीं, उस जमाने में दैनिक जीवन में यातायात के लिए रथों का उपयोग किया जाता था। यह ठीक है कि आम आदमी रथ का उपयोग नहीं कर पाता था तथा विशिष्ट लोग ही रथ का प्रयोग करते थे परंतु उस जमाने में भी शुल्क देकर रथ प्राप्त करने की प्रथा थी। *तैत्तिरीय संहिता* में उल्लेख है कि रथ में सम्माननीय लोग ही चला करते थे और विशिष्ट तथा अतिविशिष्ट लोगों के रथ अत्यंत आकर्षक, सुंदर व सुसज्जित होते थे। रथ रंग बिरंगे वस्त्रों, पताकाओं, रत्नों व पुष्पों से मनोहारी ढंग से सजाये जाते थे। रथ ही नहीं रथ खींचने वाले रथ पशुओं को भी सजाया जाता था। सारथी भी सुंदर वस्त्र धारण कर रथ पर बैठता था। राज्य के अधिकारियों व संपन्न लोगों के पास अपने स्वयं के रथ होते थे। रथ रखना उन दिनों गौरवमय समझा जाता था।

वैदिक काल तथा रामायण-महाभारत काल के साहित्य में रथों के विभिन्न प्रकारों का विस्तार से उल्लेख है। रथों की निर्माण कला तथा रथों के चालन की शिक्षा के संबंधों में भी विवरण मिलता है। कलापूर्ण रथों के निर्माण का भी वर्णन मिलता है। आभूषण, ध्वज, पताका और रत्नों से मंडित रथों का उपयोग राजा तथा राजपरिवार के लोग एवं बड़े अधिकारी करते थे। घूमने फिरने के उद्देश्य से 'पुष्प रथ' भी बनाये जाते थे। उत्सव व पर्वों के समय भी ऐसे रथों का उपयोग किया जाता था। महिलाओं के लिए विशेष प्रकार के रथों का निर्माण होता था। ऐसे रथों को 'कर्णीरथ' के नाम से जाना जाता था। इन रथों की साज सज्जा सर्वोत्तम होती थी तथा ध्वनिमय घंटियां भी लगी होती थीं। जिससे दूर से पता चल जाता था कि अमुक रथ आ रहा है।

युद्ध में रथों का विशेष महत्व था। युद्ध के लिए रथ विशेष प्रकार के होते थे। ये रथ बेहद मजबूत होते थे। इन रथों में अस्त्र-शस्त्र रखने की विशेष व्यवस्था रहती थी। कुछ युद्ध रथों के नाम 'रथमुशल' 'महाशिलाटक', परपशुभिमानक', 'अग्निभीरू' आदि

थे। ये रथ आधुनिक टैंक की तरह सुरक्षित व संहारक हुआ करते थे। इन रथों के माध्यम से युद्ध में विजय प्राप्त करना आसान था। ऐसे रथों का भी उल्लेख मिलता है, जिन पर आग का कोई असर नहीं होता था तथा युद्ध भूमि में जहां यह रथ पहुंच जाता था वहां शत्रुओं की सेना भाग खड़ी होती थी। संभवतः ऐसे महत्वपूर्ण रथों का प्रमुख ही, जो हजारों योद्धाओं से अकेला युद्ध लड़ने की क्षमता रखता था, युद्ध क्षेत्र में महारथी कहलाता था। इन रथों में सारथी के अतिरिक्त, सैनिक आदि भी हुआ करते थे, जो रथ के भीतर ही सहायता करते थे।

युद्ध मे प्रयुक्त होने वाले रथों के प्रकार सैकड़ों थे। कुछ रथ काफी बड़े आकार के भी हुआ करते थे। जिसमें घायल रथी के विश्राम की व्यवस्था भी रहती थी। कुछ रथों में स्नानगृह, शयनकक्ष और भोजनकक्ष भी हुआ करते थे। ज्यादातर युद्ध रथ चमड़े से मंडित होते थे और सुरक्षा आदि की दृष्टि से धातुओं का प्रयोग भी रहता था। युद्ध में जाने वाले चिकित्सकों के रथ का भी उल्लेख मिलता है। इन रथों मे औषधि, खाद्य सामग्री तथा घी रहता था। 'गजरथ' भी हुआ करते थे जिन्हे हाथी खींचते थे, ऊंट रथ भी थे, जिन्हे ऊंट खींचते थे।

रथों का निर्माण रथ खींचने वाले पशुओं की क्षमता को ध्यान में रखकर किया जाता था। रथों के आकार के संबंध में कुछ निश्चित रूप से कह पाना मुश्किल है, क्योंकि प्राचीन काल मे कुछ बहुत बड़े रथों का भी उल्लेख मिलता है। जिनमें कई सारथी, अनेक योद्धा तथा विपुल अस्त्र-शस्त्र रहते थे। आमतौर से रथ की रक्षा के लिए अलग से सैनिक होते थे जो रथ से बाहर रहते थे परंतु इन विशालकाय रथों में सैनिक भीतर भी रहते थे। पुराणों में अंधकासुर के रथ का उल्लेख भी मिलता है, जिसमें एक हजार पहिए थे। हालांकि यह बात अतिशयोक्तिपूर्ण लगती है फिर भी इस संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि काफी बड़े आकार के युद्ध रथ भी थे, जिनमें समस्त सुविधाओं के साथ युद्ध सामग्री, योद्धा और सारथी आदि रहा करते थे। रथ कई मेहराव वाले होते थे, जो एक दूसरे से जुड़े रहते थे तथा बाहर से एकाएक अंदर की स्थिति का आभास नहीं हो पाता था। सैनिक रथ तो अपना अस्तित्व लगभग गंवा बैठे हैं। क्योंकि विगत् कई शताब्दियों से उनके उपयोग की आवश्यकता ही नहीं रही।

उत्सवों व दैनिक उपयोग में आने वाले रथों के कुछ नमूने आज भी देखने को मिल जाते हैं। सुंदर ग्रामीण क्षेत्रों में जिनके पास रथ हैं, उनका उपयोग वे यदाकदा परंपरागत रूप में पर्व त्यौहारों पर कर लेते हैं। कुछ प्राचीन रथ संग्रहालयों में भी सुरक्षित हैं। आज इन रथों का उपयोग तो नहीं होता परंतु ये कलात्मक तथा पुरातात्विक दृष्टि से अत्यधिक महत्व के हैं। राजस्थान के राजघराने के कई प्राचीन रथ बहुत बहुमूल्य होने के साथ-साथ शिल्प की दृष्टि से संपन्न हैं। इनमें हाथी दांत की नक्कासी, मीणाकारी का काम स्वर्ण मंडित जालियाँ, अत्याकर्षक छत्र व सिहांसन अपने आप में अनुपम हैं। पुराने जमाने में रथ भी वैभव व संपत्ति के हिस्सा थे और जिसके पास जितने श्रेष्ठ रथ होते थे वह उतना ही संपन्न

समझा जाता था। युद्ध में भी मूल्यांकन युद्ध रथों की संख्या के आधार पर होता था। रथ दान व दहेज में भी दिए जाते थे।

रथों का हमारे सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन में विरल महत्व रहा है। आज भी दशहरे आदि के अवसरों पर प्राचीन रथों का प्रदर्शन होता है। देव प्रतिमाओं को ले जाने वाले रथों का तो आज भी महत्व है। रथ यात्रा के अवसर पर देश के कोने-कोने से भगवान जगन्नाथ की रथ यात्रा निकलती है। पुरी की रथ यात्रा जो जग प्रसिद्ध है, जिसमें तीन रथ निकलते हैं और इन सुसज्जित रथों को श्रद्धा से लोग खुद खींचते हैं। विदेशों में रह रहे भारतीय भी विदेशों में रथ यात्रा पर्व मनाते हैं तथा हमारे प्राचीन रथों की आकृति को देखकर विदेशी भी मंत्रमुग्ध हो जाते हैं। इसमें दो राय नहीं कि हमारे प्राचीन रथ हमारी सांस्कृतिक धरोहर तो हैं ही, साथ ही विश्वभर के लोगों के लिए आकर्षण के केंद्र भी हैं। □
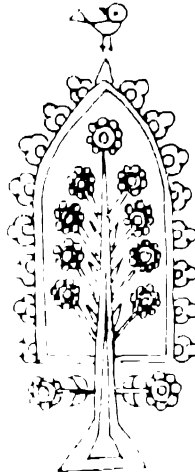
मदनगोपाल शर्मा : पत्र-पत्रिकाओं में निरंतर लेखन के साथ-साथ कुछ पत्रों का संपादन भी।
इन दिनों केंद्रीय लेखा परीक्षा विभाग मे कार्यरत हैं।
संपर्क : 60, अनुपम नगर, ग्वालियर-464011

पुस्तकें

हल्दी-चावल और अन्य कविताएँ

ग्रामीण संवेदना की कविताएँ

राजा खुगशाल

'हल्दी-चावल और अन्य कविताएँ' सुपरिचित कवि दिविक रमेश का तीसरा कविता-संग्रह है। इससे पहले 'रास्ते के बीच' और 'खुली आंखों में आकाश' उनके दो कविता-संग्रह प्रकाशित और चर्चित हो चुके हैं। 'खुली आंखों में आकाश' की कविताओं से प्रस्तुत संग्रह की कविताएं कुछ अर्थों में अलग हैं। संग्रह की भूमिका में वरिष्ठ कवि केदारनाथ सिंह ने इन कविताओं को अपनी भाषिक जड़ों की ओर लौटने की रचनात्मक छटपटाहट कहा है। पहले के दो संग्रहों की कविताएं ध्यान में रखते हुए 'हल्दी-चावल और अन्य कविताएँ' की कविताओं से कवि के क्रमिक-विकास को रेखांकित किया जा सकता है।

'खुली आंखों में आकाश' कविता-संग्रह 1983 में प्रकाशित हुआ था। इन वर्षों में महानगरीय जीवन की तरह ग्रामीण और कस्बाई जीवन की स्थितियां भी जटिल से जटिलतर हुई हैं। 'खुली आंखों में आकाश' संग्रह की एक कविता है—'मेरे हिस्से का गांव'। कविता की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं—

खूब पहचानता हूं/यही है मेरा गांव
ये ही हैं वे खेत/जहां अब्बा/अपनी
ठिगनी देह को/बैलों की लंबी-लंबी
डगों की ताल में झुमाते/धरती का
राग गाते थे।

किंतु अब—

पिता/बस एक याद भर हैं
अब इतिहास के मामूली पृष्ठों से
धुँधलाते हुए/बस एक संकेत भर
संपन्न हो चुके शरणार्थी दिमागों में, त्यक्त।

शहरीकरण से उत्पन्न गांव के आम आदमी का दुःख इन कविताओं में बोलचाल की भाषा में व्यक्त हुआ है। अपनी बात को अधिक काव्यात्मक बनाने के लिए कवि ने कहीं-कहीं संकेतों का सहारा लिया है। 'खुली आंखों में आकाश' का रामसिंह इस संग्रह में भी है। यह रामसिंह सबका है और किसी का नहीं है। रामसिंह हर जगह है और कहीं नहीं है। रामसिंह की जरूरत सबको है किंतु रामसिंह सबके लिए गैरजरूरी है। रामसिंह

काव्य-नायक है, जिस पर ग्रामीण-समाज का अर्थतंत्र टिका हुआ है। 'संभावना' शीर्षक कविता में कवि कहता है—

आदमी कभी-कभी
हो जाना चाहता है सब्जी
पटरियों पर बिछी बोरियों की
लिपट जाना चाहता है स्वाद-सा
रामसिंह की उंगलियों पर।

रामसिंह कदम-कदम पर शोषण का शिकार है। रामसिंह के प्रति कवि की सहानुभूति उसे ग्रामीण समाज का प्रधान चरित्र बना देती है। रामसिंह जानता है—खेत अब ईंट-कंक्रीटों के जंगल हो गये हैं। धरती का राग, मंद पड़ता हुआ लुप्त-सा हो गया है। खेतों से रामसिंह का वास्ता बदल गया है। वह अब खेतों को 'शहरी साहब' के रूप में देखता है। घरों में गेहूं अब कर्ज और उधार से आता है, खेतों से नहीं। 'गेहूं घर आया है' कविता का अंश है—

कर्ज का ही सही
घर आया तो है गेहूं
गृहिणी खुश है
आज लीपा है पूरे उछाह से आंगन।

जीवन स्थितियों का यह बदलाव दिविक रमेश की कविताओं में ही नहीं समकालीन युवा कवियों की कविताओं में भी व्यक्त हुआ है। आज रचनाकार के सामने परिवेश की पहचान का संकट है। यह संकट दिनो-दिन गहराता जा रहा है। इसके चलते कविता की ही नहीं समूचे साहित्य की अर्थवत्ता पर प्रश्नचिन्ह लगने लगा है। हम एक ऐसे परिवेश में जी रहे हैं जिसमें हमें हताशा के सिवा कुछ नहीं सूझ रहा। हमारे अनुभव, स्मृतियां, सहज मानवीय संबंध जीवन की सच्चाइयां और अच्छाइयां व्यतीत की याद बनकर रह गयी हैं। 'बुआ' शीर्षक कविता में कवि कहता है—

बार-त्योहार थी बूआ/लहर थी,
दीवाली-ईद सी/एक हिदायत थी
मुट्ठियों में थामे हुए घाघरी
उम्मीदों का एक भरौटा थी बूआ।

घर-गांव की स्मृतियां कवि को शक्ति और संबल प्रदान करती हैं। वह बार-बार अपनी जमीन की ओर लौटता है। समय की भयावहता से घबराकर वह अपने गांव-कस्बे की सहज-सुंदर स्मृतियों के साथ कविता में आता है। स्थानीय शब्द उसकी कविताओं को प्रामाणिक बनाते हैं। 'हल्दी-चावल और अन्य कविताएँ,' की कविताओं में स्थानीयता की रंगत है। दिविक की कविताओं में अपनी मिट्टी की महक है। इन कविताओं में हरियाणवी

शब्द हिंदी के होकर आये हैं। 'हारा' (मिट्टी की अंगीठी), 'जेवड़ी (रस्सी), 'गोस्से' (उपले), 'सूग' (घृणा) 'हामी' (हाँ) 'नाड़' (गरदन) 'हुकटी' (हुक्का) और 'धार काढ़ना' (दुहना) आदि शब्दों के प्रति अलग से ध्यान नहीं देना पड़ता। स्थानीयता उनकी कविता में भाषा के स्तर पर रची-बसी है।

ये कविताएँ दैनिक जीवन के मामूली संदर्भों की कविताएँ हैं। हमारे रोजमर्रा के जीवन में अर्थहीन और गैरजरूरी लगने वाली चीजें भी इनमें अर्थवान हो उठी हैं। इन कविताओं में प्रगतिशीलता मूल्यों के स्तर पर है। एक अर्थ में 'हल्दी-चावल और अन्य कविताएँ' की कविताएं समकालीन कविता के प्रचलित ढर्रे से अलग हैं। इसलिए कवि अपने समकालीन कवियों से अलग है। शिल्प की दृष्टि से दिविक रमेश की कविताएँ प्रयाग शुक्ल और भगवत रावत की कविताओं के अधिक करीब हैं। व्यावहारिक यथार्थ के अधिक नजदीक। इन कविताओं में एक निजीपन है जिसे कवि ने अपने आस-पास के जीवन से व 'लोक' के संसर्ग से हासिल किया है। जीवन के प्रति गहरी दिलचस्पी इस कवि को दुःखों और क्षोभ की मनः स्थितियों से उबार लेती है। 'हँसना हँसना हँसना' शीर्षक कविता में कवि कहता है—

अपने गहरे अथाह अंधेरे से उठ कर
लेकर तो देखो वह खुशबू
जो दूर-दूर तक फैली है
तुम्हारी दुनिया की सरहदों से शुरू होकर।

दिविक रमेश अपनी कविताओं में नपे-तुले, कम शब्दों में अपनी बात कहते हैं। उनकी कविताएँ सहज हैं, इसलिए विशिष्ट हैं। भय-आशंकाओं की स्थितियों में ये कविताएँ उम्मीद व आस्थाओं की कविताएँ हैं। 'अपने साथ के लिए' शीर्षक कविता का अंश है—

दूर-दूर तक हरी हो गयी है धरती
भर गयी है/दूधिया मिठास से
आज मैं भी बैठूँगा/तुम्हारे साथ मचानों पर
करूंगा हिफ़ाजत अन्न के दानों की।

अनाज के दानों की हिफ़ाजत असुरक्षा के माहौल में सुरक्षा है। इसमें असुंदर से सुंदर को बचाने का भाव निहित है। महानगरीय सुख-सुविधाएं कवि का अभीष्ट नहीं हैं। महानगर में रहता हुआ कवि अपने लिए गांव का साथ ही उपयुक्त पाता है। गांव में रामसिंह बुआ और परसादी हैं। किंतु जीवन के अनुकूल परिस्थितियां अब गांव में भी नहीं हैं। कवि गांव से शहर और शहर से गांव के बीच झूलता है। गांव और शहर के बीच की यह द्वंद्वात्मकता हमारे समय के अधिकतर युवा कवियों की कविताओं में हैं। इस संदर्भ में मैं दिविक रमेश की 'भरौटा' कविता को उद्धृत करना चाहूँगा—

हवेली का आखिरी पेड़ भी
कट गया है इस बार।
जब थोड़ी देर राहत लेने के लिए
भरौटे की तरह उतारकर आऊँगा
सिर पर लदे हुए शहर को
तो कोई पेड़ नहीं होगा हवेली में।
कोई पेड़ नहीं होगा
जिससे गुफ्तगू कर सकूँ
कोई पेड़ नहीं होगा
जिसे खुद को समझा सकूं।

लौट आऊंगा
अपने में ही समेटे-समेटे
अपने सुख को
अपने दुःख को
अपनी उत्सुकताओं को
अपनी अकेली दुनिया को।

दिविक रमेश की कविताओं में जीवन की विसंगतियों के प्रति क्रोध व तिक्तता नहीं है। इन कविताओं मे विसंगतियां जीवन की नियति भी नहीं हैं। कवि चीजों को संयत और सधे ढंग से देखता है। कवि की काव्य-संवेदना ग्रामीण और कस्बाई है इसलिए काव्य-सौष्ठव के बजाय कविताओं के निहितार्थ को पाठकों तक पहुंचाना ही कवि का प्रयोजन है। त्रिलोचन जी ने 'खुली आंखों में आकाश' की भूमिका में जिस 'सामान्यता' का जिक्र किया था, वह 'सामान्यता' कुछ प्रौढ़ता के साथ इस संग्रह की कविताओं में भी है। यह सामान्यता पिछले कुछ वर्षों की कविताओं का सामूहिक गुण है, जो सामान्यजन के प्रति प्रतिबद्ध हुए बिना कविता में संभव नहीं है। इस संग्रह की 'तीसरा हाथ' शीर्षक कविता में एक रोचक चरित्र है—परसादी।

हुकटी पीता हुआ
अक्सर फिलासफी झाड़ता है परसादी
और फिर एक बार, दो बार, तीन बार
शायद चार बार भी
अपनी ही बात की हामी में
खुद हिलाता रहता है नाड़
ध्यान धरो न धरो
पर रस बहुत आता है

परसादी के बोलों मे
तीरथ है परसादी किस्सा-कहानियों का।

किस्सागोई और बातचीत के अंदाज मे लिखी गयीं कविताओं मे 'एक संवाद', 'क्यों', 'दहशत', 'किस्सा रोजमर्रा का उर्फ़ दो घड़ी चौके मे', 'हां' 'बर्लिन की एक शाम—1987' और 'दूसरे पते पर लिखने का दर्द' मुख्य है।

गौरतलब है कि जहां कवि विदेश में अपने वतन को याद करता है, वहां कश्मीर की वादियों मे भी अपने गांव को नहीं भूलता। बर्लिन यात्रा पर लिखी गई कविताएं महज संस्मरणनुमा काव्य-वृतांत नहीं हैं बल्कि इन कविताओं में इतिहास का दर्द है। विश्व इतिहास की महानतम त्रासदी की अनुगूंज है। कविता की अंतरराष्ट्रीय चेतना का सौहार्द है। 'कंसन्ट्रेशन कैंप उर्फ़ यातना-शिविर' शीर्षक कविता का अंतिम अंश है—

चुप मत रहो साथी
जान लेने के बाद भी पूछो, कौन थे वे कैदी
किस-किस देश के
रोयां-रोयां भीगा है जिनके
श्रमिक खून से इस जमीन पर।

ऐसी कविताओं मे वे कविता की सामर्थ्य-सीमा के प्रति सचेत नजर आते हैं। इसलिए कविता को राजनीतिक बयान बनने से बचा लेते हैं। वे दृष्टि-सपन्न कवि हैं। उनकी कविताएं समकालीन कविता की रूढ़ियों और स्थूल काव्य यथार्थ का निषेध करती हैं। उनका अपना मुहावरा है और पहचान भी। भाषा की चमक से अलग वे चीजों को सूक्ष्म किंतु उनकी समग्रता में देखते हैं। यह देखना उनकी कविताओं मे इंसानी जरूरत का हिस्सा है। ☐

हल्दी-चावल और अन्य कविताएँ/दिविक रमेश/पराग प्रकाशन/दिल्ली
मूल्य 60 रुपए/पृ. 96

राजा खुगशाल · युवा कवि, समीक्षक। *संवाद के सिलसिले में* (1985) और *सदी के शेष वर्ष* (1991) दो कविता-संग्रह।
संपर्क : ई-146, सैक्टर-27, नौएडा।

महत्वपूर्ण सामाजिक खंड काव्य

डॉ. मनोज सोनकर

मेरे सामने विवेचनार्थ डॉ. विष्णुदत्त राकेश का 'देवरात' शीर्षक खंड काव्य है। साठोत्तरी कविता मूलतः मुक्त छंद में लिखी गई कविता है, इसमें प्रबंध काव्य भी कमोबेश रूप में मुक्त छंद में ही लिखे गए हैं, लेकिन यह खंड काव्य छंदबद्ध खंड काव्य है और इसमें आठ सर्ग हैं।

प्रथम सर्ग में हरिश्चद्र कहते है कि मेरे संपन्न राज्य मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी एक साथ खाना खाते हैं और एक ही कुएं का मीठा जल पीते हैं (पृ 19)। अतीत काल में ऊंच-नीच का भेद बहुत ही कड़ा था। शूद्र कवष को पानी के लिए तरसा-तरसा कर मार गया था। शंबूक, एकलव्य, रोमहर्षण के साथ घिनौना व्यवहार हुआ था। अतः हरिश्चद्र का यह कथन गले के नीचे नहीं उतरता है।

निःसंतान हरिश्चद्र को मुनि (नारद और पर्वत) बताते हैं कि पुत्र के बिना न स्वर्ण मिलता है न मोक्ष मिलता है। मुक्ति भी नहीं होती (पृ 20)। इसी सार्थकता के कारण आज भी पुत्र का महत्व अजेय बना हुआ है और लोग पुत्री-हत्या (गर्भ-जल-परीक्षण) पर उतर आए हैं।

इस सर्ग में सुतहीन हरिश्चंद्र की मनोव्यथा का प्रभावशाली अंकन हुआ है। वे फूटे हैं -

किंतु हा, सुतहीन मैं हतभाग,
क्या करूंगा भोग कर साम्राज्य
श्राद्ध के दिन पितृगण संतप्त
तप्त जल पीते न होते तृप्त।। (पृ 19)

हरिश्चंद्र की पत्नी भी सुतहीनता से व्यथित हैं। हरिश्चंद्र पुत्र-प्राप्ति के लिए वरूण की तपस्या करते हैं। वरूण प्रसन्न हो, उन्हें वरदान देते है। हरिश्चंद्र पुत्र की बलि चढ़ाने का वादा करते हैं।

दूसरे सर्ग की सबसे बड़ी विशेषता प्रभावशाली प्रकृति वर्णन है। उषा, नदी, वातास, कलि, अलि और पिक आदि का प्रभावशाली मानवीकरण हुआ है। प्रस्तुत है नदी का मानवीकरणः-

नदी की कदली जंघा झांप,
लटकता तट पर तरूण तमाल

लहर के फेनिल दुग्ध कपोल
पोंछते किरणों के रूमाल।। (पृ. 29)

पर यह मानवीकरण शालीन है। शकुंतला की जांघ भी कदली जंघा थी। अज्ञेय ने भी नदी की जांघ पर सोया हुआ अंधेरा देखा था। साठोत्तरी कविता के कुछ कवि भी जांघों के भूगोल में रमे हैं।

दूसरे सर्ग में पुत्र-प्राप्ति को अंकित किया गया है। कुछ मिलन-चित्र उभारे गए हैं। प्रस्तुत है एक बिंब-

गगन की बाहों में उस ओर,
पड़ी थी रश्मि शांत निष्पंद।
इधर मेरी गोदी में मौन,
प्रिय के नलिन नयन थे बंद।। (पृ. 32)

इस कृति के बिंबों में 'अकविता' के बिंबों की तरह की अश्लीलता नहीं है, शालीनता है। हरिश्चंद्र ने नर-नारी को एक-दूसरे का पूरक बताते हुए कहा है-

नारी ने माना है यदि नित्य
सकल जीवन में पति भगवान।
अकारण तज कर उसका साथ
पुरुष का क्या होगा कल्याण।। (पृ. 33)

सच तो यह है कि आदिकाल से ही पुरूष सत्ता, पति को 'भगवान' बताकर, नारी का शोषण करती आ रही है और उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व के विकास के मार्ग में रोड़े अटकाती आ रही है। नारियों ने इस षड्यंत्र को समझना शुरू कर दिया है। दूसरे सर्ग में भी प्रकृति वर्णन आकर्षक है, इसी सर्ग में हरिश्चंद्र को पुत्र-प्राप्ति होती है।

तृतीय सर्ग में रोहित के जन्मोत्सव का अच्छा अंकन हुआ है। इस सर्ग में कवि ने हरिश्चंद्र के वात्सल्य भाव को बड़े ही प्रभावशाली ढंग से उभारा है। हरिश्चंद्र के लिए रोहित है—घर का उजियारा, आंखों का तारा, रूचिर खिलौना, रूप सलोना, ममता-टोना, खुशियों का रखवाला और जीवन-मरू-धारा (पृ. 41)। वरूण और हरिश्चंद्र की बातचीत बहुत मर्मस्पर्शी है। यह बातचीत ही इस सर्ग की सबसे बड़ी विशेषता है। जब वरूण रोहित की बलि मांगते हैं तब हरिश्चंद्र ममता के हाथो विवश हो जाते हैं और नरबलि की निंदा करते हैं—

नरबलि का यह निर्मम विधान,
आर्येतर तत्वों का मिलान
जीवित प्राणी को कर मर्दित
क्या परमेश्वर होंगे हर्षित?

जब सब हैं उनकी संतानें,
तब किसे पराया, निज मानें।। (पृ. 39)

सचमुच नरबलि (मानव-हत्या) निंदनीय है। शंबूक की हत्या करने वाले राम 'आर्येतर' नहीं थे। सत्य तो यह है कि प्राचीन कथाओं में विरोधाभास है, कथनी और करनी में अंतर है। जीवित प्राणों को कर मर्दित। क्या परमेश्वर होंगे हर्षित? यह प्रश्न आज भी गंभीर है। आज भी प्रासंगिक है। इस प्रश्न पर गांधी और गौतम ने विचार किया। अहिंसा का संदेश दिया था। भक्तों को भी इस पर गंभीरता से विचार करना चाहिए।

चौथे सर्ग में रोहित महल से भागकर जंगल में चला जाता है। ऋषि (इंद्र) उसकी देखभाल करते हैं। छह वर्ष के बाद वह पिता से मिलने के लिए निकल पड़ता है और अजीगर्त के गांव में पहुंच जाता है। इस सर्ग में रोहित के अंर्तद्वंद्व का अच्छा अंकन हुआ है। रोहित ने कहा है कि पुत्र को पिता के काम आना चाहिए (पृ. 44)। यह संदेश आज के टूटते हुए परिवारों के लिए उपयोगी है। इसी सर्ग में प्रजापति ने देह को 'भौतिक विकार' बताते हुए कहा है—

भौतिक जीवन के विकास को दनुजों ने अंतिम माना,
आत्मावास्यमिंद सर्वं का तत्व देवगण ने जाना। (पृ. 49)

यहीं पर प्रश्न पूछा जा सकता है—यदि देह भौतिक विकार थी, तो ऋषि-मुनि च्यवनप्राश क्यों खाते थे? राजा छप्पन प्रकार के भोजन क्यों चखते थे? भौतिक जीवन के विकास की उपेक्षा के कारण ही सुदामा जैसा दरिद्र हुआ था और आज तो इस देश में सुदामाओं की भरमार है। सच तो यह है कि न देह उपेक्षणीय है न भौतिक विकास। आध्यात्मिकता पर जरूरत से ज्यादा जोर देने के कारण ही यह देश पिछड़ा हुआ देश बना हुआ है। दूसरे देश चांद-सितारों पर जा रहे हैं और हम बैलगाड़ी के पीछे डंडा लेकर भाग रहे हैं।

पांचवें सर्ग में हरिश्चंद्र डुग्गी पिटवाते हैं कि बलि के लिए जो अपना पुत्र देगा, उसे धन-धान्य, पद-प्रतिष्ठा मिलेगी (पृ. 55)। इस घोषणा को दरिद्र अजीगर्त 'सामंतीचाल' बताते हैं (पृ 55)। यदि अतीत का गहरा अध्ययन किया जाए तो सामंती चालों की लंबी 'लिस्ट' तैयार हो जाएगी। नागार्जुन के उपन्यास 'बटेसरनाथ' में बटेसरनाथ कहते हैं—जैकिसुन, तुम्हें पता नहीं, आजादी मिलने से थोड़े दिन पहले ही राजाओं ने जमीन, बगीचे, तालाब आदि बेचकर धन बटोरना शुरू कर दिया था। (पृ. 40)। आज इस मुल्क में राजा नहीं है, लेकिन राजा जैसे कुछ लोग जरूर हैं जो कुचक्र में लगे हुए हैं। अजीगर्त का यह कहना सही है—'नरमेद्य बर्बरता है। वैदिक विधान का घोर हनन' है (पृ. 55)। दुःख तो इस बात की है कि अजीगर्त (जनसाधारण) के इस विचार की उपेक्षा अतीत में भी हुई थी और आजकल भी हो रही है। देश में तरह-तरह के खूनी आंदोलन चल रहे हैं, दगे भड़क रहे हैं। इन सभी में 'नरमेद्य' हो रहा है। अजीगर्त कहते हैं—

इस रूढ़ व्यवस्था का विरोध
करना है मेरा धर्म बोध।। (पृ. 43)

'रूढ़ व्यवस्था ' को लोग अतीत में भी बदलना चाहते थे, आज भी बदलने की छटपटाहट दिखाई पड़ती है। भूख संबंधी अजीगर्त के विचार बहुत सही हैं। अजीगर्त ने कहा है—भूख सबसे बड़ा पाप है। भूख के कारण युवती बिकती है। अपराधों की जड़ भूख है। भूख गरीबों की हार है, भूख लोगों को गद्दार बनाती है, भूख पीड़ित की ललकार है और शोषित की हुंकार है (पृ. 59)। भूख के बारे में यह भी सत्य ही है—

कुल को करती निर्मूल भूख,
समता के उर का शूल भूख
है भूख जिंदगी का कुठार
करता समाज को तार-तार।। (पृ. 60)

जो कुछ भी अजीगर्त ने भूख के बारे में कहा है, वह भयानक और कड़वी सचाई है। यह सचाई अतीत काल में भी विद्यमान थी और आज भी अत्यंत विकराल रूप में विद्यमान है। इस देश में रोटी, कपड़ा, मकान का भयानक अभाव है। इस अभाव के कारण तरह-तरह के खतरनाक आंदोलन पनप रहे हैं और समाज तार-तार हो रहा है। अजीगर्त ने भूख से तड़प कर अपने मझले बेटे शुनः शेप को बेच दिया था। बंगाल के अकाल से पीड़ित होकर महाकवि 'निराला' ने लिखा था—

बाप बेटा बेचता है, भूख से बेहाल होकर
धर्म धीरज प्राण खोकर, हो रही अनरीति बर्बर
राष्ट्र सारा देखता है।

साठोत्तरी हिंदी कविता पर शोध कार्य करते समय मैंने यह गौर किया है कि प्रतिबद्ध और अप्रतिबद्ध दोनों किस्म के कवियों को रोटी, कपड़ा और मकान के अभाव ने बहुत ज्यादा व्यथित किया है।

धूमिल ने लिखा है—

बच्चे भूखे हैं/मां के चेहरे पर पत्थर
पिता जैसे काठ/अपनी ही आग में
जल रहा है/ज्यों सारा घर।

सच तो यह है कि सारा देश ही भूख की आग में जल रहा है। अजीगर्त आज भी मौजूद है। शुनः शेप आज भी बेचे और खरीदे जा रहे हैं। बंधुआ मजदूर और बाल मजदूर शुनः शेप ही तो हैं। विश्वामित्र भी भूख से बिलबिला कर चांडाल की मड़ई में घुसे थे और आज भी घुस रहे हैं। ब्राह्मण और शूद्र दोनों मिल कर ठेला खींच रहे हैं।

छठे सर्ग में यज्ञ के दृश्य को बहुत ही अच्छे ढंग से अंकित किया गया है। विश्वामित्र यज्ञ पशु (शुनः शेप) को देखकर भावुक हो उठे हैं (पृ. 76)। यह संकेत बड़ा नाटकीय है, आगे चलकर विश्वामित्र शुनः शेप को पुत्र के रूप मे अपनाते हैं।

सातवें सर्ग में, शुनः शेप के मां संबंधी विचार बहुत ही मर्मस्पर्शी हैं—मां निर्झरिणी का मीठा जल है, जीवन की आशा है, सुगंध की बेल है, अनंत आशीष है, सुखदायक लोरी है, तीर्थ जल की पवित्र गागर है (पृ. 70)। शुनः शेप 'अरुंधती मां' से पूछता है—यदि मेरी जगह आपको शक्ति होती, तो क्या आपको यह नरबलि की प्रथा मान्य होती? यह प्रश्न सुनकर वह अश्विनी से प्रार्थना करती है कि देव। इसे मुक्त कर दो। लोप मुद्रा रो पड़ती है। दूसरी तपसी नारियां भी दुखी होती हैं। नारी समाज शुनः शेप की मुक्ति चाहता है। हरिश्चंद्र भी व्यथित होते हैं (पृ. 71)।

यह सर्ग (सातवां सर्ग) सबसे महत्वपूर्ण सर्ग है। क्योंकि इसी सर्ग में यह मिथकीय काव्य आधुनिक भाव बोध से संपन्न हुआ है। इस सर्ग में शुनः शेप (देवरात) प्रभावशाली समाज सुधारक के रूप मे उभरे हैं। शुनः शेप ने असमानता, भेद-भाव, दोगलेपन, ऊंच-नीच भाव, वंश परंपरा, दलित-तिरस्कार, राजतंत्र, भ्रष्ट व्यवस्था, आतंक, शोषण, जन दुर्दशा, भोगी शासक, लोभी साहित्यकार, सुविधा भोगी बुद्धिजीवी, स्वतंत्रता-हनन, पराधीन चिंतन, नर-बिक्री, बंधुवा प्रथा, सेवक-प्रथा, बेगारी कृषक और श्रमिक शोषण, गरीब दुर्दशा और सामंती व्यवस्था का बहुत ही कड़ा विरोध किया है। प्रस्तुत हैं कुछ उदाहरण—

राजन् अमृतपुत्र हैं हम सब,
तो फिर क्यों है इतना भेद?
राजपुत्र के प्राण बचाने,
हेतु मरे निर्धन सुत खेद।। (पृ. 71)

डसता रहा सदा समाज को
ऊंच नीच का विषधर सर्प।
नहीं एक होने देता है
उच्च वंश का मिथ्या दर्प।। (पृ.73)

शासक का सुत मणि, किरीट का,
दलित पुत्र होगा पद त्राण।
है कैसी यह घृणित व्यवस्था
है कैसा यह कुटिल विधान।। (पृ.73)

शुनः शेप ने जिन-जिन बुराइयों का विरोध किया है, वे तमाम बुराइयां अतीत में भी थीं, और वर्तमान मे भी विद्यमान हैं। अतः शुनः शेप (देवरात) का विरोध एक जागरूक समाज सुधारक का विरोध है, लेकिन शुनः शेप ने इन बुराइयों को समाप्त करने के लिए कोई मार्ग नहीं बतलाया है। शुनः शेप के उद्‌गार सुनकर ऐसा लगता है जैसे कोई कट्टर

साम्यवादी मंच से विरोध प्रकट कर रहा है, लेकिन शुनः शेप तो मिथकीय पात्र है। यदि शुनः शेप मार्क्सवादी होते, तो तमाम बुराइयों की समाप्ति के लिए वर्ग संघर्ष की वकालत कर देते। लेकिन वे साम्यवादी नहीं हैं। वे बुराइयों का विरोध तो करते हैं लेकिन उनकी समाप्ति का रास्ता नहीं बतलाते। यही शुनः शेप (देवरात) के चिंतन की सीमा है।

शुनः शेप ने अपने आपको शोषितों का प्रतिनिधि बतलाया है (पृ. 79)। सत्य तो यह है कि अब शोषित और दलित अपना प्रतिनिधित्व खुद करने के लिए तैयार हैं। उन्हें किसी प्रतिनिधि की आवश्यकता नहीं रह गई है। प्रतिनिधियों की ईमानदारी विवाद का विषय बन गई है।

सर्ग (सातवां सर्ग) के अंत में शुनः शेप अपने ज्ञान, तर्क और विद्वता के बल पर मुक्त हो जाते हैं और शुनः शेप से 'देवरात' (देवरट्ट-ऋषि श्रेष्ठ) बन जाते हैं। विश्वामित्र उन्हें अपना पुत्र मान लेते हैं।

आठवें सर्ग में राजा हरिश्चंद्र का बदला हुआ रूप नजर आता है। वे नरबलि का विरोध करते हैं और उपदेश देते हैं—त्यागपूर्वक वैभव का भोग करो, सत्कर्म करो, लोभ त्यागो, सत्य-मार्ग पर चलो, ऊंच-नीच का भेद त्यागो, घृणा-ईर्ष्या से मुक्त रहो, आत्म विभोर बनो, देह-सुख में लिप्त मत होओ, व्यष्टि त्याग समष्टि के मार्ग पर चलो और आध्यात्मिकता तथा भौतिकता का समन्वय करो (पृ. 94-95)। ये सभी उपदेश बहुत अच्छे हैं। लेकिन वास्तविक जीवन में बड़ी मुश्किल से नजर आते थे और बड़ी मुश्किल से नजर आ रहे हैं। ऐसा क्यों है? यह प्रश्न विचारणीय है।

इस खंडकाव्य का शिल्प उम्दा है। प्रबंध काव्य के सभी पुराने तत्त्व (प्रख्यात कथा, उच्च वंश का नायक, चरित्र चित्रण, एक से अधिक सर्ग, प्रकृति वर्णन आदि) इस कृति में प्रभावशाली रूप में विद्यमान हैं। कृति में आत्मकथात्मक शैली का मुख्य रूप में और वार्तालाप शैली का गौण रूप में प्रयोग हुआ है। सर्गों की संख्या भी एक से ज्यादा है, आठ है। सर्गों में विभिन्न छंदों का सुंदर निर्वाह हुआ है। साठोत्तरी हिंदी कविता मूलत. छंदमुक्त कविता है। यह कविता गद्याभास का शिकार हुई है। इसमें शब्दों का अपव्यय भी बहुत हुआ है। ऐसी स्थिति में छंदबद्ध कृति 'देवरात' को देखकर बड़ी राहत और ठंडक मिली है। साठोत्तरी कविता मूलतः सामाजिक चेतना की कविता है। अतः प्रकृति उपेक्षित हो गई है। इस कृति में प्रकृति बड़े भव्य रूप में विद्यमान है। यह सुखद है। कवि ने प्रभावशाली उपमान (जैसे ध्रुव चला गया था, वैसे रोहित चला गया (पृ. 44) बटु मृग छौना जैसा, पल्लव दोना जैसा (पृ. 46), बंधा शुनः शेप, कृष्णासार मृग सा, पुत्र वंचित ब्राह्मणी, रेत पर तड़पती मछली सी (पृ. 71) आदि भी जुटाएं हैं। भाषा पात्रानुकूल और प्रवाहमयी है।

कुल मिलाकर, कथ्य और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से 'देवरात' एक महत्वपूर्ण खंड काव्य है। इसमें विद्यमान सामाजिक चेतना प्रशंसनीय है। इस सामाजिक चेतना में आधुनिक भावबोध विद्यमान है। मिथकीय कथानक बिना आधुनिक भावबोध अप्रासंगिक हो जाता

है। अतः यह कृति प्रासंगिक हो गई है। महत्वपूर्ण हो गई है। डॉ. वीरेंद्र सिंह ने लिखा है 'कवि, कलाकार और चिंतक ... मिथकों का संदर्भानुसार विवेचन करते हैं और 'कुछ' मिथकों को इस सीमा तक अर्थवत्ता प्रदान करते हैं कि उनका जाति की सांस्कृतिक चेतना से एक गहरा और सार्थक संबंध हो जाता है। ... वे मिथकों को नया अर्थ प्रदान करते हैं—पूरी परंपरा का मंथन कर उसे प्रासंगिकता प्रदान करते हैं (शब्दार्थों के गवाक्ष, पृ. 70-71)। डॉ. विष्णुदत्त राकेश द्वारा रचित खंडकाव्य 'देवरात' इस कसौटी पर पूरी तरह खरा उतरता है। 'देवरात' सार्थक संबंध स्थापित करता है और कवि डॉ. विष्णुदत्त राकेश ने उसे प्रासंगिकता भी प्रदान की है।

अंत में मेरे मन में कुछ प्रश्न उठे हैं—क्या प्रबंध काव्य की रचना के लिए प्राचीन प्रख्यात कथाओं का आश्रय लेना नितांत अनिवार्य है? क्या प्रबंध काव्य जन-जीवन में बिखरी, अलिखित कथाओं को आधार बना कर नहीं लिखे जा सकते? आवश्यकता इस दिशा में भी सोचने की है। □

देवरात/डॉ. विष्णुदत्त राकेश/राधाकृष्ण प्रकाशन, 2/38 अंसारी मार्ग, दरियागंज नयी दिल्ली-2/ मूल्य: 60 रुपए/पृष्ठ सं. 97
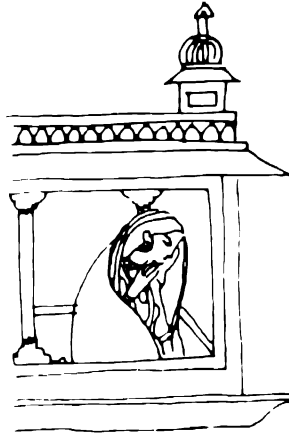
मनोज सोनकर : कवि और लेखक। हाइकू का संग्रह *चितकबरी* शीर्षक से। पत्र-पत्रिकाओं में लेखन।

संपर्क : 599/3, शर्मा निवास, जे.जे. रोड, बंबई-22।

सांस्कृतिक गतिविधियां

पिछले दिनों राजधानी में अनेक साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियां सक्रिय रहीं। कुछ बड़े पुरस्कारों की घोषणा भी की गयी और दुर्भाग्यवश देश-विदेश में ख्याति प्राप्त कुछ हस्ताक्षर हमें अलविदा कह गए। यहां संक्षेप में इन घटनाओं को प्रस्तुत किया गया है।

जनवरी

डॉ. प्रतिभा राय को भारतीय ज्ञानपीठ का नवम् मूर्तिदेवी पुरस्कार उनके उपन्यास 'याज्ञसेनी' के लिए नयी दिल्ली के फिक्की सभागार में दिया गया। डॉ. राय को शाल, सरस्वती की प्रतिमा, प्रशस्ति पत्र और इक्यावन हजार रुपये से सम्मानित किया गया। यह पुरस्कार भारत के उपराष्ट्रपति श्री के.आर. नारायणन ने प्रदान किया।

इस अवसर पर डॉ. राय के कहानी संग्रह 'देवकी' का लोकार्पण भी किया गया। वक्ताओं में डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी, साहू अशोक कुमार जैन व रमेश चंद्र जैन ने भी अपने विचार व्यक्त किए। समारोह में देश के प्रतिष्ठित साहित्यकार मौजूद थे।

बालकन-जी-बारी इंटरनेशनल की ओर से तेईस बालकवियों को वर्ष 1992 के लिए चतुर्थ राष्ट्रीय नेहरू बाल कविता पुरस्कार से सम्मानित किया गया। इसी अवसर पर वर्ष 1992 का सर्वश्रेष्ठ बाल साहित्यकार के रूप में डॉ. दिविक रमेश को भी पुरस्कृत किया गया।

नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा आयोजित *बाल पुस्तक मेला* राष्ट्रीय प्राणी उद्यान में संपन्न हुआ। इस मेले में बहत्तर प्रकाशकों ने हिस्सा लिया। इस अवसर पर कहानीकार द्रोणवीर कोहली व दिविक रमेश ने बच्चों को कहानियां भी सुनायीं।

मानव संसाधन विकास मंत्री श्री अर्जुन सिंह ने गांधीवादी चिंतक रामेश्वर सिंह 'पंकज' की कृति 'गांधी जी की विश्व दृष्टि' का लोकार्पण किया। संस्कृत अकादेमी द्वारा आयोजित गणतंत्र दिवस के उपलक्ष्य पर अखिल भारतीय संस्कृत कवि सम्मेलन का आयोजन हिमाचल भवन में हुआ जिसमें अनेक कवियों ने संस्कृत काव्य पाठ किया। साहित्यिक संस्था 'सोपान' द्वारा आयोजित युवा कवि गोष्ठी की अध्यक्षता डॉ. रामदरश मिश्र ने की। गोष्ठी में युवा कवियों ने अपनी ताजा कविताएं सुनाईं। मंच संचालन किया डॉ. विद्या शर्मा ने। अनेक कविताप्रेमी इस गोष्ठी में मौजूद थे।

सामाजिक संस्था *जागृति मंच* द्वारा *कविताः एक दिन* का आयोजन किया गया, कार्यक्रम की अध्यक्षता श्री बालस्वरूप राही ने की। मुख्य अतिथि के रूप में आमंत्रित थे श्री कमलाकांत द्विवेदी। पूरे दिन कवियों ने हृदयस्पर्शी कविताएं सुनाईं। हिंदी अकादेमी एवं साहित्य कला परिषद द्वारा आयोजित लालकिला का कवि सम्मेलन संपन्न हुआ। मुख्य अतिथि थीं-भूतपूर्व सूचना प्रसारण उपमंत्री सुश्री गिरिजा व्यास। अकादेमी द्वारा ही आयोजित मुशायरा भी संपन्न हुआ जिसमें अनेक महत्वपूर्ण शायरों ने हिस्सेदारी की। दिल्ली

विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग द्वारा आयोजित डॉ. (श्रीमती) सावित्री सिन्हा स्मारक भाषण का आयोजन किया गया। 'कविता और संप्रेषण' विषय पर बोलते हुए मुख्य अतिथि डॉ. रामदरश मिश्र ने रचना की आस्था और जीवन-मूल्यों की ओर रचनाकर्मियों का ध्यान दिलाया। कार्यक्रम में अनेक महत्वपूर्ण लोगों ने साझेदारी की। रूसी दूतावास ने रूसी-भारतीय साहित्यकारों की एक शाम आयोजित की। कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य परस्पर मेल-जोल और साहित्य में नयी धारा को विकसित करना था। संस्कृत को बढ़ावा देने के लिए श्री लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ ने एक कार्यशाला का आयोजन किया। संस्कृति उपमंत्री सुश्री शैलजा ने कार्यशाला का उद्‌घाटन किया। इस अवसर पर भाष रचित 'दूत घटोत्कचम्' नाटक का मंचन भी हुआ।

प्रदर्शनी

जनवरी के प्रथम सप्ताह मे त्रिवेणी कला संगम में कलकत्ता की चित्रकार सुश्री बबीता दास की चित्र प्रदर्शनी लगी। बबीता के चित्रों में मानवीय संवेदना, आधुनिक माहौल से टकराती जिंदगी का बाह्य रूप काफी कुशलता मे प्रस्तुत हुआ है। श्री धराणी कला दीर्घा में हिमा कौशल टेराकोव की बनी छब्बीस मूर्तिकलाओं का प्रदर्शन हुआ। हिमा की मूर्तिकला में समाज के विभिन्न वर्गों का चित्रांकन बखूबी हुआ है। जनवरी के दूसरे सप्ताह, श्रीधराणी कला दीर्घा में प्रभाशाह की चित्र प्रदर्शनी प्रदर्शित हुई। प्रभा के चित्रों में आधुनिक जीवन को आत्मसात करता अनुभव अधिक दिखायी पड़ता है। हंगरी सूचना सांस्कृतिक केंद्र में आस्ट्रेलिया और हंगरी के करीब इक्कीस कलाकारों की चित्र प्रदर्शनी आयोजित हुई। प्रदर्शनी का आयोजन आस्ट्रेलिया हाई कमीशन के सहयोग से हुआ। सभी कलाकारों के चित्र विशेष आभा लिए हुए थे। मैक गैलरी में अंजना चक्रवर्ती और शांतुन चक्रवर्ती के जलरंग चित्र प्रदर्शनी आयोजित हुई। अधिकतर चित्रों का विषय *भारतीय गांवों का पिछड़ापन रहा।*

आर्ट हेरिटेज में अनुपम सूद की आठवीं एकल प्रदर्शनी आयोजित हुई। प्रदर्शनी में सूद के अड़तीस चित्र शामिल थे। 'झरोखा' के अंतर्गत हौजखास विलेज में दो युवा कलाकार राजेंद्र चड्डा और आहूजा के चित्र और मूर्तिशिल्प का आयोजन हुआ। गैलरी में सुबोध गुप्त की चित्र प्रदर्शनी लगी। सुबोध के चित्रों में भागती दुनिया का बोलता रेखांकन अपनी छवि छोड़ता दिखता है। धूमीमल गैलरी मे शिवासेन की चित्र प्रदर्शनी आयोजित हुई। शिवासेन के अधिकतर चित्रों में पारंपरिक संबंधों का आधुनिक दृष्टिकोण प्रस्तुत हुआ है। एक अन्य प्रदर्शनी में मामून-नोमानी के जलरंगों की विशिष्ट प्रदर्शनी त्रिवेणी कला संगम में आयोजित हुई। इनके चित्रों में 'सनसेट' और 'सनराइज' प्रमुख रहे।

नृत्य/संगीत

जनवरी के प्रथम सप्ताह, संगीत नाटक अकादेमी की अंतर्राज्यीय सांस्कृतिक विनिमय योजना के अंतर्गत साहित्य कला परिषद् द्वारा राजधानी दिल्ली में हिमाचल के लोक गीत नृत्य

आरंभ हुए। इस छह दिवसीय कार्यक्रम में कुल तैंतीस कलाकारों ने मनमोहक नृत्य प्रस्तुत किए। इस कार्यक्रम को भाषा एवं संस्कृति विभाग हिमाचल प्रदेश, शिमला एवं दिल्ली पर्यटन ने प्रस्तुत किया। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् के तत्वावधान में कमानी सभागार में पारंपरिक कला क्षेत्र से प्रशिक्षित नृत्यांगनाओं ने भरतनाट्यम प्रस्तुत किया। इसमें भाग लेने वाली पारूल पाण्ड्या, तीन चीनी छात्राएं झाओ जिआओचेन, ली मोवेन तथा लिन विंग थीं। इन नृत्यांगनाओं ने राग मलिका में शब्दम् की प्रस्तुति कर श्रोताओं का मंन मोह लिया। त्रिवेणी कला संगम में लास एंजिल्स में रह रही बी. जी. प्रकाश ने अपना नृत्य प्रस्तुत किया। साहित्य कला परिषद ने तालकटोरा इंडोर स्टेडियम में त्रिआयामी मंच पर अपनी बृहद प्रस्तुति 'वंदेमातरम्' पेश की। नब्बे मिनट की इस नृत्य-नाटिका में भारत के स्वतंत्रता संग्राम के मार्मिक प्रसंगों को दिखाया गया। इस कार्यक्रम में नब्बे से अधिक कलाकारों ने भाग लिया।

अशोक होटल के सभागार में जापान फाउंडेशन जापान, भारत स्थित जापान सांस्कृतिक और सूचना केंद्र नयी दिल्ली के तत्वावधान में जापान और भारत के बीच राजनीतिक संबंध स्थापित होने की चालीसवीं वर्षगांठ के अवसर पर जापान के विख्यात 'हनीबा संगीत' दल ने मनमोहक कार्यक्रम प्रस्तुत किया। 'हनीबा' दल के सभी कलाकार कंठ संगीत के साथ-साथ विभिन्न वाद्ययंत्रों पर भी दक्ष थे।

अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह

चौबीसवें अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह का उद्घाटन नयी दिल्ली में प्रसिद्ध फिल्मकार एवं समारोह के मुख्य अतिथि जी.पी. सिप्पी ने दीप जला कर किया। समारोह दस जनवरी को आरंभ और बीस जनवरी को संपन्न हुआ। कार्यक्रम की अध्यक्षता केंद्रीय सूचना एवं प्रसारण मंत्री अजित कुमार पांजा ने की।

त्रिवेणी सभागार में कला-विहार द्वारा आयोजित नृत्य-संगीत कार्यक्रम में स्विटजरलैंड निवासी सरोदवादक केनजकरमैन ने अपनी कला का आदर्श प्रस्तुत किया।

फरवरी

फरवरी की शुरूआत हिंदी अकादेमी द्वारा आयोजित स्वर्गीय राहुल सांकृत्यायन की जन्मशती पर दो दिवसीय सम्मेलन से हुई। कार्यक्रम की अध्यक्षता वरिष्ठ साहित्यकार श्री त्रिलोचन शास्त्री ने की। कार्यक्रम में अनेक साहित्य प्रेमी उपस्थित थे। वरिष्ठ कथाकार और पत्रकार श्री कमलेश्वर ने युवा जगत की पत्रिका '*भविष्य भारत*' का लोकार्पण किया।

जनवादी लेखक संघ ने निराला की जन्मशती के उपलक्ष्य पर दिल्ली विश्वविद्यालय के संगोष्ठी कक्ष में काव्य गोष्ठी का आयोजन किया। गोष्ठी में विश्वविद्यालय से संबंधित अनेक समकालीन कवियों ने काव्य-पाठ किया। जागृति मंच द्वारा आईफैक्स सभागार में *सद्भाव कवि सम्मेलन* आयोजित किया गया। इसमें अनेक कवियों ने कविताएं सुनाईं। इस अवसर पर विदर्भ के पत्रकार श्री गिरीश गांधी को सम्मानित किया गया। सबसे कम उम्र की बाल कवयित्री आस्था की कविता विशेष रूप से सराही गई।

दिल्ली में आयोजित एक कार्यक्रम में *आचार्य देवेंद्र नाथ शर्मा : समष्टिमय व्यक्तित्व* शीर्षक की पहली प्रति उनकी पुत्री डॉ. दीप्ति त्रिपाठी ने राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा को भेंट की। तीन खंड में विभाजित इस पुस्तक में उनका व्यक्तित्व, कृतित्व और स्वतंत्र शोध निबंध हैं। इस अवसर पर अनेक साहित्यकार मौजूद थे।

गाधी दर्शन सभागार राजघाट पर प्रसिद्ध गांधीवादी विचारक एवं शिक्षाविद् प्रो. एन. राधाकृष्णन ने डॉ. उषा गोपाल के कहानी संग्रह *धुएं का ताजमहल* का लोकार्पण किया।

गार्गी महाविद्यालय में हिंदी अकादेमी एवं विश्वविद्यालय सांस्कृतिक परिषद् द्वारा कवि सम्मेलन का आयोजन हुआ। अतिथि के रूप मे आमंत्रित थे कवि रामदरश मिश्र।

हिंदी अकादमी द्वारा प्रकाशित उर्दू के शायर मीर और गालिब की रचनाओं के हिंदी अनुवाद का लोकार्पण हुआ।

27 फरवरी को सीरीफोर्ट सभागार मे भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् के अध्यक्ष श्री वसंत साठे ने भारत विश्व संगीत समारोह का उद्घाटन किया।

जवाहरलाल नेहरू पुरस्कार से सम्मानित : हेलमुट कोल्ह

राष्ट्रपति भवन के अशोक कक्ष मे आयोजित एक भव्य समारोह में राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा ने जर्मनी के चांसलर हेलमुट कोल्ह को अंतर्राष्ट्रीय सद्भावना में महत्वपूर्ण योगदान के लिए पंद्रह लाख रुपये के जवाहरलाल नेहरू पुरस्कार से सम्मानित किया।

समारोह में उपराष्ट्रपति के.आर. नारायणन, प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिंह राव, श्रीमती सोनिया गाधी एवं भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् के अध्यक्ष श्री वसंत साठे तथा जर्मनी से आये अनेक प्रतिनिधि और विदेशी राजनयिक उपस्थित थे।

साहित्य अकादेमी द्वारा आयोजित आठ दिवसीय साहित्योत्सव मनाया गया। समारोह मे कथक नृत्य से लेकर पुरस्कृत कृतियों पर विचार व्याख्यान और काव्य प्रस्तुति से लेकर मातृभाषा, युवा लेखन, उसकी विचारधारा, ग्यारह भाषाओं का काव्यपाठ सरस, अद्भुत रहा। इस महत्वपूर्ण आयोजन मे देश के प्रतिष्ठित साहित्यकार मौजूद थे।

हिंदी के विख्यात कवि, उपन्यासकार, नाटककार और समालोचक श्री नरेश मेहता को वर्ष 1992 के ज्ञानपीठ पुरस्कार के लिए चुना गया। श्री मेहता हिंदी के पांचवें और भारतीय भाषाओं के 28वें साहित्यकार है जिन्हे यह सम्मान मिला है। अब तक हिंदी में पंत, दिनकर, अज्ञेय तथा महादेवी वर्मा को सम्मानित किया जा चुका है।

प्रदर्शनी

राजधानी दिल्ली के त्रिवेणी स्कल्पचर कोर्ट में एक सामूहिक प्रदर्शनी आयोजित हुई जिसमें एस बरार, सीमा मरदा, सुनीता लांबा, सुपर्णा सराणा एवं तरूण प्रकाश की मूर्तिकलाओं का प्रदर्शन हुआ। ललित कला अकादेमी ने 36वीं राष्ट्रीय प्रदर्शनी के लिए इस बार दस कलाकारों को चुना है। इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में शीला थडानी की मूर्तिशिल्प प्रदर्शनी का आयोजन हुआ।

आर्ट हेरिटेज में आयोजित तीन युवा कलाकारों की चित्र प्रदर्शनी का आयोजन हुआ जिनमें सतीश गुजराल, भूषण कौल व वीर मुंशी के चित्र काफी सराहे गये। इस प्रदर्शनी में 'मूड्स ऑफ वैली' और 'क्राइ ऑफ माउण्टेन' चित्र अच्छे बन पड़े हैं। गैलरी गवेश में कंचन चंदर द्वारा बनाया गया लकड़ी पर प्रिंट का काम प्रदर्शित हुआ। कंचन के चित्रों में कल्पनातत्त्व भावादि से तालमेल करता है। प्रदर्शनी में आयोजित 'मास्क' 'किंग एण्ड क्वीन' प्रशंसनीय बन पड़े हैं। एल.टी.जी. कला दीर्घा में विनोद शर्मा के तेईस चित्रों की प्रदर्शनी आयोजित हुई। सृष्टि गैलरी में साधन सेन गुप्त की चित्र प्रदर्शनी आयोजित हुई। इनके चित्रों में ग्रामीण संस्कृति की झलक की सार्थक प्रस्तुति थी।

नृत्य/संगीत

राजधानी दिल्ली के वाई.एम.सी.ए. लॉन में अनूठा आदिवासी मेला आयोजित हुआ। नृत्य और संगीत के इस समारोह में बीस प्रमुख आदिवासी समूहों के जीवंत युवक-युवतियों ने भाव-विभोर कर देने वाले कार्यक्रम प्रस्तुत किए। मुख्य अतिथि के रूप में मणिपुर के उप मुख्यमंत्री श्री रिशांगकिशिंग आमंत्रित थे।

त्रिवेणी सभागार में अमरीका के कारनेगीमेलन यूनीवर्सिटी की 'कालेज ऑफ फाईन आर्ट्स' मे केरियोग्राफी की शिक्षिका सुश्री ऊपाली अपराजिता ने ओडिसी नृत्य प्रस्तुत किया। नृत्य का आरंभ मंगलाचरण की स्तुति से हुआ। राग कलावती पर आधारित इस शिव स्तुति एवं नृत्य की केरियोग्राफी स्वयं अपराजिता ने तैयार की थी।

युवामहोत्सव

साहित्य कला परिषद् द्वारा युवा महोत्सव का आयोजन किया गया जिसमें विभिन्न प्रांतों के कलाकारों ने अपनी प्रस्तुति की। त्रिवेणी सभागार में 'नृत्योदय' द्वारा आयोजित दो दिवसीय भरतनाट्यम नृत्य समारोह में नंदनि रघुपथि, राधिका राजपाल और दीपा वेंकटरमण ने हिस्सा लिया। नृत्य में दक्ष दीपा ने 'वर्णम्' में 'नी पोई शोल्लु बई नीलमेध वर्णने' की प्रस्तुति में अपने अद्भुत कौशल का परिचय दिया। कत्थक केंद्र द्वारा आयोजित कत्थक महोत्सव का आयोजन कमानी सभागार में किया गया। इसमें अनेक जाने-माने कलाकारों ने हिस्सा लिया। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् और मैक्समूलर भवन द्वारा आयोजित जर्मनी के ऐरिस क्यूनेट ने तीन मूर्ति सभागार में संगीत की शानदार प्रस्तुति की। समारोह में अनेक गण्यमान्य व्यक्ति मौजूद थे।

रंगमंच

श्रीराम सेंटर के सभागार में 'परिधि' आर्ट ग्रुप की ओर से डॉ. राही मासूम रजा द्वारा लिखित 'सीन 75' का मंचन हुआ। प्रगति मैदान में आयोजित नाट्य समारोह श्रृंगार थियेटर में आरंभ हुआ। इस समारोह में सात नाटकों का मंचन हुआ। समारोह का शुभारंभ विश्व

रंगमंच के सुप्रसिद्ध जर्मन नाटककार बर्टोल्ट ब्रेख्त के नाटक 'मदर करेज' के हिंदी रूपांतरण 'हिम्मत भाई' के साथ हुआ।

पुरस्कार

के.के. बिड़ला फाउंडेशन ने साहित्यिक कृतियों को सम्मानित करने के लिए कुछ पुरस्कारों का प्रवर्त्तन किया है। इनमें सर्वप्रमुख है *सरस्वती सम्मान* जो प्रतिवर्ष किसी भारतीय नागरिक की एक ऐसी उत्कृष्ट साहित्यिक कृति को दिया जाता है जो भारत के संविधान की आठवीं अनुसूची में उल्लिखित किसी भी भाषा में सम्मान वर्ष के ठीक पहले के दस वर्ष की अवधि में प्रकाशित हुई हो। इसकी सम्मान राशि तीन लाख रुपए है।

पिछले वर्ष—यानी 1992 के लिए जिन लोगों को पुरस्कार देने की घोषणा की गयी उनमें सरस्वती सम्मान के लिए ओडिया के विख्यात कवि श्री रमाकांत रथ की काव्य कृति *श्रीराधा* को चुना गया है। संस्कृत की उत्कृष्ट साहित्यिक कृति के लिए *वाचस्पति पुरस्कार* स्थापित किया गया है जिसकी राशि पचास हजार रुपए है और यह पुरस्कार डॉ. जगन्नाथ पाठक की कृति 'मृद्विका' के लिए दिया गया है। यह उल्लेखनीय है कि संस्कृत के लिए इस प्रकार का कोई अन्य सम्मान या पुरस्कार नहीं है।

व्यास सम्मान के लिए हिंदी के प्रख्यात कथाकार प्रो. शिवप्रसाद सिंह की महान औपन्यासिक कृति 'नीला चांद' को पुरस्कृत किया गया है। इसकी राशि डेढ़ लाख रुपए होती है। राजस्थान के हिंदी लेखकों के लिए *बिहारी पुरस्कार* प्रदान किया जाता है जिसकी राशि पचास हजार रुपए है। यह पुरस्कार नंद चतुर्वेदी की काव्य कृति *'यह समय मामूली नहीं'* के लिए दिया गया है। इनके अलावा वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए *जी.डी. बिड़ला पुरस्कार* प्रो. गोवर्धन मेहता को दिया गया है। यह पुरस्कार 50 वर्ष से कम उम्र के उन भारतीय वैज्ञानिकों को दिया जाता है जो भारत में ही रह कर कार्य कर रहे हैं। इसकी सम्मान राशि एक लाख रुपए है।

हिंदी में भारतीय दर्शन, संस्कृति और कला की उत्कृष्ट कृतियों को सम्मानित करने के लिए *शंकर पुरस्कार* की राशि भी एक लाख रुपए रखी गयी है। 1992 का प्रथम पुरस्कार प्रो. गोविंदचंद पाण्डे को उनकी पुस्तक 'भारतीय परंपरा के मूल स्वर' के लिए समर्पित करने का निर्णय लिया गया है। इसकी पुरस्कार राशि फाउंडेशन समय-समय पर निश्चित करता है। अभी इसकी राशि एक लाख रुपए निर्धारित की गयी है। यह पुरस्कार आदि शंकराचार्य के नाम पर स्थापित किया गया है।

रमाकांत रथ

प्रसिद्ध ओड़िया साहित्यकार रमाकांत रथ का जन्म 13 दिसंबर, 1934 को हुआ। तेईस वर्ष की आयु में उन्होंने आई.ए.एस. में प्रवेश किया और भारत सरकार के सचिव व राज्य

सरकार के मुख्य सचिव जैसे महत्वपूर्ण पदों पर कार्यरत रहने के बाद वे अभी कुछ दिन पहले सेवानिवृत्त हुए हैं। प्रशासनिक सेवा में रहते हुए भी उनके अंतस की साहित्यिक सृजनात्मकता पर तनिक भी आंच नहीं आई क्योंकि रमाकांत मूलत: कवि हैं और कवि ही रहेंगे। पिछले तीस वर्षों में उनके सात कविता संग्रह प्रकाशित हुए हैं: *केते दिनर* (1962), *अनेक कोठरी* (1967), *संदिग्ध मृगया* (1971), *सप्तम ऋतु* (1977), *सचित्र अंधार* (1982), *श्रीराधा* (1985) व *श्रेष्ठ कविता* (1992)।

श्रीराधा 1985 में अवतरित हुई। यह महाकाव्यात्मक कलाकृति वास्तव में एक क्लासिक मानी जाने लगी है। *श्रीराधा* ओड़िया की प्रचलित कविता के नवीकृत अलौकिक परंपरा की प्रभावशाली उपलब्धि होने के साथ ही नई कविता के लिए एक ठेठ ओड़िया काव्य शैली की तलाश की पराकाष्ठा भी है। विषय वस्तु और शैली दोनों ही दृष्टि से *श्रीराधा* ऐतिहासिक महत्व की एक अनन्य साहित्यिक कृति है। यह कृति एक युग की समाप्ति और दूसरे का सूत्रपात करती है। कवि के शब्दों में—"जीवन तथा जीवन काल के बाहर इसे प्राप्त करने की इच्छा नहीं रखता। जीवन के बाहर न तो कोई काल होता है और न स्थान इसलिए अपने समय को व्यर्थ के कामों में नहीं गंवाया जा सकता। यद्यपि समय अक्षय है पर किसी भी ऐसे कार्य के लिए जो इस प्रेम का अंश नहीं है जीवन में कोई स्थान नहीं है। व्यक्ति जानता है कि संबंध शाश्वत रूप में बने नहीं रह सकते और उन्हें संतोषजनक ढंग से पुनर्व्यवस्थित करने के लिए पर्याप्त समय नहीं होगा, इसलिए उसमें अपने प्रेमी को समझने तथा उसे क्षमा करने की क्षमता भी अधिक होती है। मैं किसी ऐसी चिड़चिड़ी राधा की कल्पना नहीं कर सकता जो कृष्ण को वृंदावन छोड़ने के लिए, उस पर निष्ठा न रखने के लिए तथा उसके प्रति उदासीन रहने के लिए चिड़चिड़ाती हो और उसके प्रति प्रेम को मान्यता दिलवाने या उसके साथ रहने के उपाय ढूंढने के लिए उससे कहती हो। ऐसा कोई भी आचरण उसके लिए अप्रासंगिक है। प्रारंभ से ही वह ऐसी कोई आशा नहीं पाले रखती। कुंठित होकर निराश होने की भी उसके लिए कोई संभावना नहीं है। अगर वह निराश हो सकती है तो केवल इसलिए, कि कृष्ण को जिस सहानुभूति तथा संवेदना की आवश्यकता थी, वह उसे न दे सकी, न दे पाने की पीड़ा कुछ लोगों के लिए न ले पाने की पीड़ा से बड़ी होती है।"

सन् 1992 का पहला वाचस्पति पुरस्कार, रणवीर केंद्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू के प्राचार्य डॉ. जगन्नाथ पाठक को दिया गया है।

2 फरवरी, 1934 को जन्मे डॉ. पाठक की शिक्षा-दीक्षा बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में हुई। उन्होंने वहां से वर्ष 1965 में एम. ए. किया। यहीं से उन्होंने *धनपाल* की *तिलक मंजरी का आलोचनात्मक अध्ययन* विषय पर शोध किया जिस पर उन्हें डाक्टरेट की उपाधि मिली। एक छोटे स्कूल के शिक्षक के रूप में शुरुआत करके डा. पाठक ने लाल बहादुर केंद्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नयी दिल्ली, गंगानाथ झा केंद्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद में अध्यापन कार्य किया और आजकल वे रणवीर केंद्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू के प्राचार्य हैं।

प्रथम वाचस्पति पुरस्कार के लिए चुनी गई डॉ. जगन्नाथ पाठक की कृति—*मृद्वीका*

कविता संग्रह है जिसे गंगानाथ झा केंद्रीय संस्कृत विद्यापीठ इलाहाबाद ने प्रकाशित किया है। इन कविताओं में ऐसी ताजा संवेदना और भावनात्मकता है जो संस्कृत साहित्य में विलक्षण और अपने ढंग की अकेली है। ये कविताएं जहां संवेदना के स्तर पर बिल्कुल नयी हैं वहीं इनमें कोमलता और मृदुता का उत्कृष्ट पद भी है। इनकी अक्षुण्णता एक ऐसे माधुर्य में पगी है जो संस्कृत कविता को अभिव्यक्ति का एक नया आयाम देती है। वैविध्यपूर्ण और समृद्ध बिंबों-प्रतीकों का भारतीय दार्शनिक चिंतन के साथ सुंदर समन्वय कविता को और ऊंचाई देता है। काव्य की भाषा इतनी सहज है कि पाठक व्याकरण के उलझावों और कठिन शब्दों की बाधा झेले बिना सीधा अभिव्यक्ति की तह तक पहुंच जाता है और कविता के मर्म से जुड़ जाता है।

प्रो. शिवप्रसाद सिंह

प्रो. शिवप्रसाद सिंह हिंदी में ही नहीं, समस्त भारतीय भाषाओं के व्यापक धरातल पर सुपरिचित, सम्मानित एवं प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं। 19 अगस्त, 1928 को जलालपुर, जमानिया (वाराणसी) में जन्मे शिवप्रसाद सिंह ने काशी विश्वविद्यालय से 1953 में एम.ए. (हिंदी) किया व चार साल बाद (1957) में वहीं डाक्टरेट करने बाद उसी विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हो गए। कुछ वर्ष पहले इसी विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में प्रोफेसर एवं अध्यक्ष रहने के बाद सेवानिवृत्त हुए। शिक्षा, साहित्य, संस्कृति, दर्शन, इतिहास जगत के जाने-माने इस साहित्यकार ने आज से चालीस वर्ष पूर्व लिखना आरंभ किया था। साथ ही अपने गुरू आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की तरह वे प्राचीन एवं नवीन साहित्य से निरंतर जुड़े रहे।

एक समर्थ कहानीकार के रूप में शिवप्रसाद सिंह की कहानियों ने शुरू से ही साहित्य मनीषियों का ध्यान आकृष्ट किया, मुसहर की बनजारा जिंदगी के आंतरिक मर्म को उजागर करने वाली उनकी कहानी *पापजीवी* जन-जीवन की वेदना का जीवंत बिंब बनकर प्रसिद्ध हुई। *आरपार की माला, कर्मनाशा की हार, बिंदा महाराज, नन्हों, सुबह के बादल, अंधकूप, अरूंधती और मुरदासराय* उनकी ऐसी कहानियां हैं जो अपनी संवेदना और परिवेश के लिए निरंतर चर्चित रही है। उनकी कहानियों के संग्रह *अंधकूप* (संपूर्ण कहानियां भाग-1) *एक यात्रा सतह के नीचे* (भाग-2) नई कहानी के इतिहास की अमूल्य उपलब्धिया हैं। वास्तव में वे हिंदी में *नयी कहानी* आंदोलन के पुरस्कर्ताओं में से हैं और विद्वानों द्वारा उनकी कहानी *दादी मां* इस धारा की पहली कहानी मानी गई है। उन्होंने अरविंद दर्शन में रमकर महर्षि अरविंद की जीवनी *उत्तर योगी* शीर्षक से लिखी है। हिंदी तथा भारतीय साहित्य के जीवनी साहित्य की यह एक अमूल्य कृति है। उनका विचारक मन व्यक्ति-व्यंजक-निबंधों में खुलता है और वे हमारी निर्वैयक्तिक परंपरा के विलक्षण स्पंदनों की सृष्टि करते हैं। उनके संपूर्ण निबंध *मानसी प्राम* और *किस किस को नमन करूं* दो खण्डों में प्रकाशित हुए हैं।

नीला चांद एक महाकाव्यात्मक उपन्यास है। उसके संबंध में उपन्यासकार ने कहा है:

"मैं मध्यकाल की वह काशी देखना चाहता था जो विदेशी आक्रांताओं के पहले थी। मुझे तदनुरूप किसी ऐसे समय को ढूंढ़ना था, जिसने त्रिकंटक को भी हिला दिया हो, "धगद् धगद् धगद् ज्वलम्" के भीतर नंदीश्वर के ज्योतिर्लिंग ने विशाल स्तंभ की तरह धरा और आकाश को जोड़ दिया हो। और वह समय मिला ईस्वी 1060 की काशी में ... सन् 1060 के आसपास का समय ऐसा भयानक और अस्थिर है जिसमें महमूद गजनवी के हमले के रूप में धन लोभी तुर्कों के प्रहार भारत झेलता है, राजपूत शासकों की दुर्बलताएँ न कला संस्कृति की रक्षा कर पाने में समर्थ थीं न अपनी अहंवादी परंपरा के गौरव को अक्षत रखने में। इस उपन्यास की कथा में इतिहास, संस्कृति, कला आदि की वह अद्भुत किस्सागोई कला का प्राकृत रूप से प्रयोग है जिसमें लगातार हमारी जिज्ञासा को बढ़ाने की शक्ति है। इस दृष्टि से भी 'नीला चांद' मध्यकाल की काशी का ऐतिहासिक दस्तावेज नहीं है न पुरातात्विक अनुसंधान का जखीरा। पूरी उपन्यास गाथा में उस समय विशेष का सत्ता-संघर्ष है, जय-पराजय की राजनीति है—शक्ति के तूफानों का विस्फोट और वेग और कथा में हर स्थल पर देश और काल की आंतरिक लय है। इस उपन्यास का संसार इतिहास के प्रहारों द्वारा क्षत-विक्षत, जगह-जगह रूंधा हुआ, भ्रष्ट, मैला, मायावी फिर भी क्रियाशील अपने बिंबों एवं प्रतीकों में प्राणवान, जीवन को, मृत्यु को लगातार एक अर्थवत्ता देता हुआ सांस्कृतिक ऐतिहासिक बोध का महाकाव्यात्मक विस्तार है। इसमें वे सभी तत्व मौजूद हैं जो एक जीवंत सभ्यता संस्कृति के समग्र चरित्र को बनाते हैं। उपन्यासकार इतिहास के धागे में बंधकर भी काशी के सांस्कृतिक हृदय की आंतरिक धड़कन को सुनना चाहता है—काशी की संस्कृति, काशी का समाज और काशी का कला सौंदर्य और व्यवसाय। काशी के इसी युग के भीतर साधक भाव से उपन्यासकार पैठता है—वह उन प्रहारों का ही उल्लेख नहीं करता है जो काशी पर हुए वह उन घावों पर भी निगाह जमाता है जिसे वज्रयानी, बौद्ध कापालिकों ने काशी की आत्मा पर किए थे। उपन्यास के बाह्य चक्र में कीरत गोमती के प्रणय की गंध है, श्री मां और विद्याधर का राग विस्तार है—अगस्त्य पुष्पों से भरा। क्षण मिलन और जीवन भर विरह लीला का काव्यात्मक प्रदेश भी यहीं है। राजाओं में कीरत कर्ण में बलदेव ओझा विनायक भट्ट में, गोमती, शिंजनी में द्वेष है—पर यह उपन्यास स्मृति का उजला प्रकाश है और कर्त्तव्य का राग चरित। विद्याधर देव, कीर्तिवर्मा, अनंत, रज्जुक गाहड़वाल, गोपाल भट्ट, चंद्र देव आदि ऐतिहासिक पात्र हैं और लक्ष्मीकर्ण द्वारा देववर्मा की हत्या, खजुराहों के मंदिर की लूट, लक्ष्मीकर्ण की हूण पत्नी, तुर्क आक्रमण, कन्नौज के शासक की कायरता, चंदेल शासकों के यहां ब्राह्मण अमात्यों की

परंपरा, कर्ण एवं भोज द्वारा मंदिर निर्माण की स्पर्धा, काशी की वामाचारी साधना, माणिका देवदासी प्रथा और कीरत द्वारा लक्ष्मीकर्ण का मान मर्दन आदि सभी ऐतिहासिक सांस्कृतिक तथ्य हैं।

काशी में धर्म, योग और कला का त्रिकोण भी उपन्यासकार की केंद्रीय संवेदना से उभरता है—काशी के सभी मंदिरों के इतिहास का अनुसंधान मोहित करता है और नदियों की कहानी लुभाती है, उपासना पद्धतियों के दार्शनिक विवेचन में उपन्यासकार को सिद्धि हासिल है। काशी के समाज में अस्पृश्यों की दर्दनाक दशा का चित्रण तो समाज शास्त्र के मर्मज्ञों को भविष्य में वस्तुस्थिति से यथार्थ साक्षात्कार के लिए ही प्रस्तुत किया गया है। दिलचस्प कला यह है कि प्रसंगों-संदर्भों, घटनाओं, युद्धों, धार्मिक ध्वनियों आदि से भरा पड़ा यह उपन्यास अपनी कथा की आंतरिकता या अंतर्योजना को कहीं भी खण्डित नहीं होने देता है। यथार्थ और इतिहास, संस्कृति और समाज सभी घुल मिलकर ऐसे हो गए हैं मानो नायाब हीरे का क्रिस्टल है। अपनी इसी कला-सिद्धि के कारण *नीला चांद* हिंदी ही नहीं भारतीय उपन्यासों में प्रथम कोटि की रचना है—दूसरी सृजनात्मक भाषा में संस्कृति बोलती है और संस्कृति में भाषा का भाव—रसायन। एक अमोघ शक्ति का प्रतीक बनकर *नीला चांद* साहित्य के क्षेत्र में भी चमकता है। "*बेटे, जैसे हर व्यक्ति के भीतर एक आंगन होता है, एक तुलसी चौरा होता है। वैसे ही सवेरे छोटे-छोटे आकाश में एक नीला चांद भी होता है, ढकोसलों से नहीं, नियति को जानने वाले दांभिकों की भविष्यवाणियों से नहीं, तू खुद कालिमा में डूबकर अपने मन के आंगन में जगमगाता 'नीला चांद' देख लेगा, उसका नाम है अमोघ इच्छा-शक्ति।*" (नीला चांद पृ. 645)

26 जून, 1943 को जन्मे प्रो. गोवर्धन मेहता ने उदयपुर और बिड़ला इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नालाजी एंड साइंस, पिलानी में शिक्षा प्राप्त की। पिलानी में उन्होंने 1963 में विज्ञान में अधिस्नातक डिग्री प्राप्त की। उन्होंने 1966 में पुना विश्वविद्यालय से डाक्टरेट (पी.एच.डी.) की उपाधि प्राप्त की और 1967-69 में मिशीगन और ओहियो स्टेट यूनिवर्सिटी (अमेरिका) से पोस्टडाक्टोरल अनुसंधान किया। 1969 से 1977 तक उन्होंने भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, कानपुर में व्याख्याता और सहायक प्राध्यापक के रूप में कार्य किया। 1977 में उन्होंने प्राध्यापक के रूप में हैदराबाद विश्वविद्यालय में कार्यभार ग्रहण किया जहां वे वर्तमान में कार्यरत हैं।

प्रो. मेहता ने कार्बनिक रसायन के इन विषयों में विशेषज्ञता प्राप्त की है: प्राकृतिक व अप्राकृतिक उत्पादों का संश्लेषण, नई प्रतिक्रियाओं व प्रतिकर्मकों का अभिकल्पन, आणविक पुनर्गठन व प्रकाशीय-रसायन, आणविक अभिज्ञान व अभिग्राहकों का अभिकल्पन। विभिन्न मुद्दों पर पकड़ और भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में विशद् अनुसंधान के कारण प्रो. मेहता

कार्बनिक रसायन में कार्बनिक संश्लेषण से लेकर भौतिक कार्बनिक रसायन और जीव रसायन से लेकर आणविक अभिज्ञान तक विभिन्न समस्याओं का निस्तारण करने में सफल हुए हैं।

वे पिछले दो वर्षों में कार्बनिक रसायन के सर्वाधिक मूलभूत विषयों में से एक-विन्यास रसायन पर विशेष ध्यान दे रहे हैं। नवीन परीक्षणों के अभिकल्पन के कारण कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण परिणाम प्राप्त किए जा सके हैं। इनसे डायस्टीरियोसलेक्टीविटी (Diastereoselectivity) पर काफी प्रकाश पड़ा है। इस अवधि के दौरान प्रो. मेहता ने आणविक अभिज्ञान और क्रियाशील अणुओं के अभिकल्पन की दिशा में भी काम शुरू किया है।

1923 में जन्मे प्रो. गोविंद चंद्र पाण्डे, प्राचीन इतिहास, भारतीय दर्शन व संस्कृति के जाने-माने विद्वानों में गिने जाते हैं। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में शिक्षा पाकर प्रो. पाण्डे ने इलाहाबाद, गोरखपुर तथा राजस्थान विश्वविद्यालय में आचार्य के पद पर कार्य किया। राजस्थान विश्वविद्यालय के वे कुलपति भी रहे। देश की अनेकों विद्वत्त परिषदों से उनके सक्रिय संबंध रहे हैं। वह राजस्थान इतिहास परिषद, भारतीय दर्शन परिषद, भारतीय पुरातत्व सोसाइटी, भारतीय इतिहास और संस्कृति परिषद आदि के अध्यक्ष रहे हैं। आजकल वे भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद के फैलो हैं। उनके लिखे इतिहास ग्रंथों में *बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास* (1963), *लेक्चर्स ऑन जैनिज्म* (1978), *फाउंडेशन ऑव इंडियन कल्चर* (1984), *ऐन एप्रोच टु इंडियन कल्चर एण्ड सिविलिजेशन* (1985) और दर्शन ग्रंथों में *अपोहसिद्धि* (1971), *न्याय बिंदु* (1971), *द मीनिंग एंड प्रोसेस ऑफ कल्चर* (1972) और *मूल्य मीमांसा* (1973) प्रसिद्ध हैं। प्रो. पाण्डे कवि भी हैं और उनके दो कविता संग्रह *अग्निबीज* और *क्षण और लक्षण* प्रकाशित हुए हैं।

शंकर पुरस्कार प्रो. गोविंद चंद्र पांडे को उनकी पुस्तक *भारतीय परंपरा के मूल स्वर* पर दिया गया है। यह पुस्तक एक ऐसी विलक्षण तथा विशुद्ध भारतीय मेधा की उपज है, जो गहन पाण्डित्य के साथ-साथ कला तथा सौंदर्य के दर्शन शास्त्र के प्रति अपूर्व संवेदनशीलता भी रखती है। पुस्तक वत्सलनिधि द्वारा संस्थापित 'हीरानंद शास्त्री स्मारक व्याख्यान पाठ' के अंतर्गत दिए गए चार व्याख्यानों का लिखित रूप है।

निधन

साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित पंजाबी कवि तारासिंह 'कमल' का निधन हो गया। वे काफी समय से अस्वस्थ चल रहे थे। उनके कविता संग्रह 'कहकशां' के लिए साहित्य अकादेमी ने सम्मानित किया था।

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ. डी.एस. कोठारी की हृदय गति रूक जाने से मृत्यु हो गई। डॉ. कोठारी प्रसिद्ध वैज्ञानिक मेघनाथ साहा के छात्र रहे थे। लंबे समय तक विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष भी रहे। भारत सरकार ने उन्हें 'पद्मविभूषण' और 'पद्मभूषण' से सम्मानित किया था। डॉ. कोठारी की 'परमाणु विस्फोट और उसका प्रभाव' पुस्तक काफी

चर्चित रही। इस पुस्तक का रूसी, जर्मन और जापानी भाषा में अनुवाद भी हुआ। डॉ. कोठारी एक सहज इंन्सान थे। प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिंह राव ने अपने शोक संदेश में कहा : 'डॉ. कोठारी के निधन से राष्ट्र ने एक महान राष्ट्रवादी तथा वैज्ञानिक खो दिया है।'

इसी अवधि में मशहूर शायर और लेखक गुलाम रब्बानी तांबा का निधन हो गया। स्व. तांबा सज्जाद, जहीर, प्रेमचंद, कृष्णचंदर, फैज आदि के समकालीन थे। स्व. तांबा ने अनेक पुस्तकें लिखीं, व अनेक अकादमियों द्वारा पुरस्कृत भी हुए। भारत सरकार ने स्व. तांबा को पद्म श्री की उपाधि भी दी। इन्हे सोवियत लैंड अवार्ड भी मिला। हिंदी फिल्मों के छिहत्तर वर्षीय वरिष्ठ निर्माता निर्देशक और लेखक कमाल अमरोही का हृदय गति रुकने से बंबई में निधन हो गया। उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण फिल्में बनाई।

हिंदी पत्रकारिता के पुरोधा, साहित्य मनीषी पद्मभूषण अक्षय कुमार जैन का हृदयगति रुक जाने से निधन हो गया। श्री जैन के परिवार मे पत्नी, दो पुत्र तथा तीन पुत्रियां हैं।

श्री जैन का जन्म 30 दिसंबर, 1915 को उत्तरप्रदेश के अलीगढ़ जिले के विजयगढ़ नामक स्थान पर प्रतिष्ठित जैन परिवार में हुआ था। श्री जैन आरंभ से ही मेधावी थे। 1939 में दैनिक 'सैनिक' के माध्यम से उन्होंने हिंदी पत्रकारिता में प्रवेश किया। दिसंबर 1946 में दैनिक नवभारत टाइम्स से जुड़े और 1955 में वे इसके प्रधान संपादक बने। उनकी यात्रा में अनेक पड़ाव आए। विभिन्न महकमों मे कार्य करने के उपरांत वे भारतीय ज्ञानपीठ के न्यासी बने।

सन् 1967 मे श्री जैन को हिंदी साहित्य तथा पत्रकारिता के क्षेत्र में उल्लेखनीय सेवाओं के लिए 'पद्मभूषण' भी मिला। □

प्रस्तुति : लालित्य ललित

पत्र-पत्रांश

'गगनाञ्चल' का जुलाई-सितंबर 1992 का अंक एक बैठक में पढ़ गया। प्रो. इंद्रनाथ चौधुरी तथा मदन गोपाल शर्मा का लेख इस अंक की विशिष्ट रचनाएं हैं। प्रेमरंजन अनिमेष की कविता 'मा को याद है' तथा अरविंद त्रिपाठी की 'मा के लिए चार कविताएं' मन को झकझोर जाती हैं। इतनी मार्मिक, जीवंत, सहज काव्य कृतियों के प्रकाशन के लिए बधाई।

रामनारायण उपाध्याय/साहित्य कुटीर/ब्राह्मण पुरी/खण्डवा/म.प्र.

'गगनाञ्चल' की नयी प्रति मिली। सुरूचिपूर्ण तथा पठनीयता का सगम। मेरी शुभकामनाएं स्वीकार करें।

शंकरदयाल सिंह/सांसद/15 गुरूद्वारा रकाबगंज रोड/नयी दिल्ली

'गगनाञ्चल' पत्रिका कई वर्षों से लगातार मेरे पास पहुंच रही है। धन्यवाद। इसमें प्रकाशित सांस्कृतिक लेखों को पढ़ने का अवसर मिलता है।

इंदिरा दसनायके/आधुनक भाषा विभाग/कैलणिय विश्वविद्यालय/कैलणिय/श्रीलंका

'गगनाञ्चल' के जुलाई-सितंबर अंक में हिंदी दिवस पर आयोजित परिचर्चा मे निःसंदेह कुछ महत्वपूर्ण मुद्दे उभरे हैं। अक की अन्य सामग्री भी स्तरीय व पठनीय है। पत्रिका मे आपका संयोजन-श्रम साफ-साफ झलकता है। ऐसे विशिष्ट व अत्यंत उपयोगी अंक के प्रकाशन के लिए मेरी हार्दिक शुभकामनाएं।

वीणा वर्मा/सांसद/4 सफदरजंग लेन/नयी दिल्ली

'गगनाञ्चल' का वर्ष 15, अक 1-2, 1992 प्राप्त हुआ। पढ़कर बहुत सतोष हुआ। वास्तव मे यह पत्रिका देश-विदेश मे भारत की सामासिक संस्कृति का जो चित्र प्रस्तुत करती है, वह अपने आप में अपूर्व है। इसके लिए परिषद् जो अथक परिश्रम करती है तथा इस पत्रिका के स्तर को कायम रखने मे जो प्रयास करती है—वह इसके लिए बधाई की पात्र है।

इस अंक में प्रस्तुत कहानिया तथा निबंध इस तथ्य की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं कि हमारा सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश किन-किन रंगों को अपने में समेटे हुए है। हिंदी कहानियों के साथ-साथ अन्य भारतीय भाषाओं की कहानियों को इसी प्रकार महत्व मिलना चाहिए, जैसा प्रस्तुत अक में किया गया है। संस्मरण, साहित्यिक पुस्तकों की समीक्षा, महत्वपूर्ण संगोष्ठियों की रपट आदि द्वारा इस पत्रिका को जिस बहुमुखी आयाम का जामा पहनाया जाता है—वह अपने आपमे अत्यंत महत्वपूर्ण है। प्रयास यही रहे कि संस्मरण, यात्रा-विवरण, डायरी आदि विधाओं के माध्यम से सामाजिक पहलुओं का विश्लेषण हो।
इस पत्रिका के निरंतर ऊंचे उठते स्तर के लिए हार्दिक बधाइयां।

मंजु गुप्त/106 साउथ पार्क अपार्टमेंट्स/कालकाजी/नयी दिल्ली-110019

पिछले कुछ दिनों में *गगनाञ्चल* के दो अंक मिले। बहिरंग और अंतरंग—दोनों दृष्टियों से वे सुंदर बन पड़े हैं। उसके पीछे एक दृष्टि है। मुझे विश्वास है कि आपके संपादन में यह पत्रिका निरंतर आगे बढ़ती रहेगी।

विष्णु प्रभाकर, 818 कुंडेवालान चौक, अजमेरी गेट, दिल्ली-6

गगनाञ्चल की सभी प्रतियां नियमित रूप से प्राप्त होती रही हैं। पत्रिका में विषयों का चयन तथा उनकी मौलिकता अद्वितीय है। हिंदी भाषा में मौलिक रचनाओं पर आधारित पत्रिकाओं की कमी अंतराल से महसूस होती रही है। *गगनाञ्चल* ने यह दायित्व सफलतापूर्वक निभाया है।

जयंत मिश्र, उप सभापति के विशेष कार्यकारी अधिकारी, राज्य सभा, नयी दिल्ली

गगनाञ्चल के जुलाई-सितंबर 1992 के अंक में इतनी अच्छी सामग्री संकलित है कि यह अंक वस्तुतः पुस्तकीय महत्व का अधिकारी बन गया है।

डॉ. कुमार विमल, कुलपति, नालंदा खुला विश्वविद्यालय, नालंदा, पटना (बिहार)

गगनाञ्चल का जुलाई-सितंबर अंक देखा। मैं महसूस करता हूं कि आपकी पत्रिका का स्तर बहुत ऊंचा है। आप लोग बहुत परिश्रम से इसे निकालते हैं।

जमाल ओवैसी, उर्दू लाइब्रेरी सोसाइटी, दरभंगा (बिहार)

गगनाञ्चल के इस अंक में डॉ. दिनेशचंद्र अग्रवाल, प्रो. इंद्रनाथ चौधुरी, मधुर शास्त्री एवं अरविंद त्रिपाठी की रचनाएं स्तरीय लगीं। पूरा अंक ज्ञानवर्धक एवं उपयोगी है।

डॉ. योगेंद्रनाथ शर्मा अरूण, प्राचार्य एवं अध्यक्ष बी.एस.एम.
(पी.जी.) कालेज, रूड़की, हरिद्वार
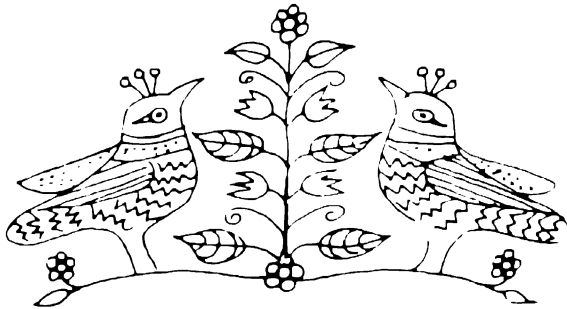
रचनाकार

रामनारायण उपाध्याय	हिंदी गद्य में रूपकों की नवीन विधा के माध्यम से जीवन, धरती और प्रकृति के मनोरम चितेरे। बीस पुस्तकें प्रकाशित। उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान द्वारा सम्मानित। राष्ट्रपति द्वारा पद्मश्री अलंकरण। लोक संस्कृति शोध संस्थान, राजस्थान द्वारा कलकत्ता में निमाड़ का सांस्कृतिक इतिहास पर स्वर्ण पदक। इंडियन फोकलोर सोसायटी, कलकत्ता द्वारा वाराणसी में भारत के लोक साहित्य मर्मज्ञ मूर्तिदेवी पुरस्कार। मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश शासन द्वारा कुछ पुस्तकों पर पुरस्कार। संपर्क . ब्राह्मण पुरी, खण्डवा (म. प्र)
डॉ. विद्यानिवास मिश्र	प्रख्यात विद्वान लेखक। निबंधों के तैंतीस संग्रह और पांच संपादित पुस्तकें। कविता संग्रह 'पानी की पुकार' के अलावा चार शोध ग्रंथ। भारतीय संस्कृति और परंपरा के अध्येता। कैलीफोर्निया और वाशिंगटन विश्वविद्यालयों में अतिथि अध्यापक रहे। संप्रति · प्रधान संपादक, नवभारत टाइम्स, टाइम्स हाउस, नयी दिल्ली-2
जॉसेफ मॅकवान	शिक्षा एम.ए. बी.एड। प्रकाशित रचनाएं—आंगलियात, लक्ष्मनती, अग्निपरीक्षा, मनखानी मिरात सहित पांच उपन्यास। माधनानी आराधना (कहानी संग्रह), व्यथाना वीतक (रेखाचित्र) 1985 की सर्वोत्तम पुस्तक के रूप में प्रतिष्ठित, गुजरात साहित्य परिषद् के दो पुरस्कारों एवं राज्य अकादेमी के प्रथम पुरस्कार सहित सर्वाधिक पुरस्कार प्राप्त गुजराती पुस्तक। साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत साहित्यकार। संपर्क . चंद्र निलय, जेवियर्स रोड, आनंद-388001
डॉ. अनंतराम मिश्र अनंत	संस्कृत-हिंदी कवि, लेखक और समीक्षक। राष्ट्रीय भावनात्मक समेकता तथा सांस्कृतिक अस्मिता के परिप्रेक्ष्य में भारतीय नदियों पर काव्य सृजन का मौलिक अवदान। संपर्क : निकट जंगलात कोठी, गोला गोकर्णनाथ, लखीमपुर, खीरी, उ.प्र.।

डॉ. विजय अग्रवाल

हिंदी साहित्य में एम.ए. करने के बाद *स्वतंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यासों में सामंती जीवन* विषय पर पी-एच.डी. की उपाधि। साहित्य, संस्कृति, भाषा और सिनेमा पर लेखन। कुछ दिनों तक *आजकल* मासिक का संपादन।
संप्रति : राष्ट्रपति के निजी सचिव
संपर्क : राष्ट्रपति भवन, नयी दिल्ली।

अरविंद त्रिपाठी

पिछले दशक से समकालीन साहित्य सृजन में सक्रिय। कवि, समीक्षक, आलोचक। पत्र पत्रिकाओं में रचनाएं।
संप्रति : आकाशवाणी, नयी दिल्ली में कार्यरत।
संपर्क : 4, सफदरजंग लेन, नयी दिल्ली।

विश्वमोहन तिवारी

कविता, यात्रा, विज्ञान, इंजीनियरी, गणित, ललित कला, पर्यटन, आलोचना के साथ-साथ रक्षा विज्ञान संबंधी विषय इनके लेखन के विषय हैं। आठ पुस्तकें जिनमें से दो भारत सरकार द्वारा पुरस्कृत। एवरवाइस मार्शल पद से सेवा निवृत्ति के बाद आजकल एक कंपनी में वरिष्ठ पद पर कार्यरत।
संपर्क . ई 143, खड 21, नोएडा-201301

सरला जगमोहन

गुजराती, अंग्रेजी और हिंदी में मौलिक लेखन और साहित्य अकादेमी, नेशनल बुक ट्रस्ट, प्रकाशन विभाग, भारतीय ज्ञानपीठ के लिए गुजराती, हिंदी और अंग्रेजी में अनुवाद। प्रमुख अनूदित रचनाएं। मनुष्य के रूप, (गुजराती में) भूख (अंग्रेजी में) असूर्य लोक (हिंदी में) शीघ्र प्रकाश्य।
संपर्क : एच-19, ग्रीनपार्क एक्सटेंशन, नयी दिल्ली-110016।

लालित्य ललित

युवा कवि और रचनाकार। संपादित कविताओं की पुस्तक कविता संभव।
संपर्क : बी-3/43, शकुंतला भवन, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063